आमुख

पंजाब यूनिवर्सिटी ने सितम्बर, सन् १९४८ में 'पब्लिकेशन ब्यूरो' (प्रकाशन विभाग) नामक एक नई शाखा इस उद्देश्य से स्थापित की कि हिन्दी और पंजाबी भाषाओं के साहित्यों को सम्पन्न तथा समृद्धिशाली बनाने में यूनिवर्सिटी भी समुचित योग दे सके। अतएव ज्ञान, विज्ञान तथा साहित्य सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थों की रचना, अन्यान्य भाषाओं की इस प्रकार की उत्तमोत्तम पुस्तकों के अनुवाद, तथा छात्रगणों की शिक्षा के लिये इन विषयों की पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण अथवा उनका प्रामाणिक रूप में संकलन एवं संशोधन करके सम्पादन—इन सभी विधियों द्वारा उक्त उद्देश्य की पूर्ति करने का यत्न किया जा रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक, 'काव्य-सीकर' में, आधुनिक हिन्दी कविता की कुछ सरल रचनाओं का संकलन तथा संपादन किया गया है। इनके चुनाव में इस बात का ध्यान रखा गया है कि पाठक सुगमता से इनको समझ सकें। उनकी ज्ञानवृद्धि के लिये कवियों का संक्षिप्त परिचय और किन्हीं कठिन शब्दों के अर्थ भी दिये गये हैं। आशा है कि पाठक-वर्ग इस से समुचित लाभ उठायेंगे।

यूनिवर्सिटी प्रकाशन विभाग की ओर से संपादक और मुद्रक के प्रति सन्तोष प्रकट करता हुआ मैं इस पुस्तक में संकलित सभी कवियों अथवा उनके उत्तराधिकारियों एवं प्रकाशकों का भी कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद करता हूँ। अपनी कविताओं को संगृहीत करने की अनुमति देकर उन्होंने न केवल अपने सौजन्य का परिचय दिया है अपितु इस प्रान्त के विद्यार्थी मंडल को भी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवियों की सुन्दर रचनाओं के पढ़ने गुनने का सौभाग्य प्रदान किया है।

इस पुस्तक को दोष तथा त्रुटिरहित बनाने का पूर्ण यत्न किया गया है। तथापि नितांत निर्दोषिता असंभव है। पाठक-पाठिकाओं से प्रार्थना है कि यदि उन्हें कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो वे कृपया मुझे सूचित करें जिससे अगले संस्करण में उसका उचित संशोधन किया जा सके।

शिमला
अक्तूबर १, १९५०

जगद्बिहारी सेठ,
सेक्रेटरी,
यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो।

विषय-सूची

दो शब्द

इस संग्रह में आधुनिक कवियो की उत्तम रचनाएँ चुनी गयी है। चूंकि यह संग्रह छोटी आयु के विद्यार्थियो के लिये तैयार किया गया है, इसलिये कवितायें ऐसी चुनी गई हैं जिनकी भाषा सरल हो और जिनके भाव सुगम हों। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि इस सग्रह में एक भी ऐसी कविता आने न पाये जिसको अनुचित कहा जा सके।

प्रायः कविता-सग्रहों मे पजाब के कवियो की उपेक्षा की जाती है, उन्हे उचित स्थान नही दिया जाता। यह सग्रह पजाब यूनिवर्सिटी का प्रकाशन है। इसलिये इसमें हिन्दी के पजाबी कवियो को उचित स्थान दिया गया है। इनका परिचय भी अन्य प्रात के कवियो के साथ दिया गया है। पजाब के छ. कवियो की रचनाये इस सग्रह में रखी गई है। कविताओं को चुनते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि इनसे पाठकों का मनोरञ्जन हो और साथ ही उनको शिक्षा भी मिल सके।

जिन कवियों की रचनाओ को इस सग्रह में चुना गया है, हम उनके आभारी हैं। हमे खेद है कि हम श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री सियाराम-शरण गुप्त की चालीस-चालीस पक्तियो से अधिक इस सग्रह मे नहीं दे सकते।

इन्द्रनाथ मदान

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०–१८८५)

परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के एक सम्पन्न परिवार में सन् १८५० में हुआ। इनके पिता गोपालचन्द्र (उपनाम गिरधिरदास) भी अच्छे कवि थे। ये अभी नौ वर्ष के ही थे कि इनके पिता का देहान्त हो गया। इसलिये बचपन में ही ये लाखों के अधिकारी हो गये। इस धन का आपने लोक-सेवा और साहित्य-सेवा के काम में खर्च किया। साथ ही अनेक पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। काशी में कन्याओं और बालकों की शिक्षा के लिये विद्यालय भी खोले। ये बड़े उदार और मौजी जीव थे।

हरिश्चन्द्र ने स्वयं गद्य और पद्य में अनेक विषयों पर बहुत-सी पुस्तकें लिखीं। कविता में एक ओर तो ये शृंगार के सरस सवैये, कवित्त लिखते थे, दूसरी ओर भक्तों के लिये पद रचते थे, और साथ ही समाज, देश भाषा के विषय में नये युग का सन्देश सुनाते थे। यद्यपि इन्होंने खड़ी बोली में भी कुछ कविताएँ लिखी हैं, फिर भी ब्रज-भाषा ही प्रधान रूप से इनकी काव्य-भाषा थी। उसमे सरलता, सरसता और मधुरता मिलती है। सब मिलाकर इन्होंने १७५ ग्रन्थों की रचना की। इनमें सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्रा राक्षस, चन्द्रावली आदि नाटक मुख्य हैं। वर्तमान काल मे हिन्दी भाषा की जितनी उन्नति भारतेन्दु से हुई, उतनी और किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हुई। हिन्दी की गद्यशैली को निश्चित रूप दिया, नाटक रचना को नया रूप दिया और कविता में नये विषयों और नयी भाषा का प्रयोग किया। इनकी साहित्य-सेवा के कारण जनता ने इन्हें भारतेन्दु की उपाधि दी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

अस्थिर जीवन

साँझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब एक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है॥
आठ बेर नौबत बज बज कर तुमको याद दिलाती है।
जाग जाग तू देख घडी यह कैसी दौडी जाती है॥
आँधी चलकर इधर-उधर से मुझको यह समझाती है।
चेत चेत* जिन्दगी हवा सी उड़ी तुम्हारी जाती है॥
पत्ते सब हिल-हिल कर पानी हर-हर करके बहता है।
हर* के सिवा कौन तू है वे सब परदे मे कहता है॥
दिया सामने खड़ा तुम्हारी करनी पर सिर धुनता है।
इक दिन मेरी तरह बुझेगा कहता तू नहिं सुनता है॥

— ० —

* इस निशान वाले शब्दों के अर्थ पुस्तक के अन्त में 'शब्दार्थ' मे दिये गये हैं। स०

श्रीधर पाठक (१८५६—१९२८)

परिचय

पण्डित श्रीधर का जन्म सन् १८५९ में जाधरी गाव (जिला आगरा) मे हुआ। ये पढने मे बहुत तेज थे। इन्होंने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कविता की। इनकी भाषा सरस और मधुर है। खडी बोली की अपेक्षा पाठक की व्रजभाषा अधिक रसीली और शुद्ध है। इन्होंने अंग्रेजी के कवि गोल्डस्मिथ और संस्कृत के कवि कालिदास के काव्यो का हिन्दी में अनुवाद किया जिनमे एकातवासी योगी, उजड ग्राम, श्रातपथिक और ऋतुसहार मुख्य हैं। मौलिक काव्यो में जगत सचाईसार, काश्मीरसुषमा और देहरादून हैं। इनकी फुटकर कविताओं का सग्रह 'मनोविनोद' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके राष्ट्रीय गीत बहुत सुन्दर और लोकप्रिय हैं।

इनका देहात मसूरी मे १३ सितम्बर १९२८ में हुआ।

श्रीधर पाठक

सु-सदेश

कहीं पै स्वर्गीय कोई वाला सुमञ्जु* वीणा वजा रही है।
सुरों के सगीत की सी कैसी सुरीली गु जार आ 'रही है॥
हरेक स्वर मे नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता* है।
निराली लय है और लीनता है, आलाप अद्‍भुत मिला रही है॥
अलक्ष्य पदों से गत सुनाती तरल तरानों से मन लुभाती।
अनूठे अटपट स्वरों मे स्वर्गिक सुधा की धारा वहा रही है॥
कोई पुरन्दर* की किरकिरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है।
वियोगतप्ता* सी भोगमुक्ता हृदय के उद्‍गार गा रही है॥
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन* कभी विनय है।
दया है दाक्षिण्य* का उदय है अनेकों वानक वना रही है।
भरे गगन मे हैं जितने तारे हुए हैं वदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानो दो उगलियों पर नचा रही है॥
सुनो तो सुनने की शक्तिवालो सको तो जाकर के कुछ पता लो।
है कौन जोगन ये जो गगन मे कि इतनी चुलवुल मचा रही है॥

— ० —

देश-गीत

(श्रीधर पाठक)

जय-जय प्यारा भारत देश,
जय-जय प्यारा जग से न्यारा,
शोभित सारा, देश हमारा,
जगत-मुकुट, जगदीश दुलारा,

जय सौभाग्य सुदेश।
जय-जय प्यारा भारत देश।

प्यारा देश, जय देशेष,
अजय अशेष, सदय विशेष,
जहाँ न संभव अघ* का लेश,

संभव केवल पुण्य-प्रवेश।
जय-जय प्यारा भारत देश।

स्वर्गिक शीश-फूल पृथिवी का,
प्रेम-मूल, प्रिय लोक-त्रयी का,
सुललित प्रकृति-नटी का टीका,

ज्यों निशि का राकेश* ।
जय-जय प्यारा भारत देश।

जय-जय शुभ्र हिमाचल-शृङ्गा,
कलरव-निरत कलोलिनी गंगा;
भानु-प्रताप-चमत्कृत अंगा,

तेज-पुंज तप-वेश ।
जय जय प्यारा भारत देश।

जग में कोटि कोटि जुग जीवै,
जीवन सुलभ अमी-रस पीवै,
सुखद वितान* सुकृत का सीवै,

रहे स्वतन्त्र हमेश।
जय-जय प्यारा भारत देश।

नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर' (१८५९—१९३२)

परिचय

श्री शंकर का जन्म १८५९ में हरदुआगंज (जिला अलीगढ) में हुआ। पहले आप कानपुर में नहर के दफ्तर में नक्शे बनाने का काम करने लगे। छ: बरस वहाँ काम करने के बाद हरदुआगंज लौट आये और चिकित्सा का काम करने लगे।

ये छोटी आयु में कविता करने लगे थे। ब्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों में आप कविता करते थे। उस समय दोनों भाषाओं में कविता की जाती थी।

इनकी मुख्य पुस्तकें ये हैं —

शंकर सरोज।

अनुराग रत्न।

वायस विजय।

इनका देहान्त सन् १९३२ में हुआ।

नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर'

पावस*-वर्णन

ऊपर को जल सूख, सूख कर उड़ जाता है।
सरदी से सकुचाय, जलद-पदवी पाता है॥
पिघलावे रवि-ताप, धरातल पै गिरता है।
वार-वार इस भाँति, सदा हिरता-फिरता है॥

पाय पवन का योग, घने घन घुमड़ाते हैं।
कर किरणों से मेल, विवध रंगत पाते हैं॥
समझो, जिसके पास, प्रकाश न जा सकता है।
क्या वह भौतिक भाव, रंग दिखला सकता है॥

चपला चंचल चाल, दमकती दुर जाती है।
वज्र-घात* घनघोर, गगन में पुर जाती है॥
दोनों चलकर साथ, विषम* गति से आते हैं।
प्रथम उजाला देख, शब्द फिर सुन पाते हैं॥

जब दिनेश की ओर, भोर भरने भड़ते हैं।
इन्द्रचाप* तब अन्य, घने घन पै पड़ते हैं॥
नील अरुण के साथ, पीत छवि दिखलाते हैं।
हमको मिश्रित रंग, बनाना सिखलाते हैं॥

जब चादर सा अभ्र*, गगन मे तन जाता है।
दिव्य परिधि का केन्द्र, इंदु तब बन जाता है॥
शशि का कुंडल गोल, समझ मे आया जब से।
बुध-मंडल ने वृत्त*, विधान बनाया तब से॥

भूधर से स्वश्याम, धवल धाराधर धाये।
घूम-घूम चहुँ ओर, घिरे गरजें झर लाये॥
वारि प्रवाह अनेक, चले अचला पर दीखे।
इस विधि कुल्याकूल, बहाना हम सब सीखे॥
झाबर* झील, तड़ाग*, नदी-नद सागर सारे।
हिल-मिल एकाकार, हुए पर हैं सब न्यारे॥
सबके बीच विराज, रहा पावस का जल है।
व्यापक इसकी भाँति, विश्व में ब्रह्म अचल है॥

— ० —

अयोध्यासिंह उपाध्याय (१८६५–१९४७)

परिचय

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म सन् १८६५ मे निजामाबाद (जिला आजमगढ़) मे हुआ। हरिऔध इनका दूसरा नाम है। इन्होंने सिक्ख बाबा सुमेरसिंह की सगत से कविता करना आरम्भ किया। पहले ये ब्रज भाषा मे पुराने ढग की कविता किया करते थे। इनकी ब्रज भाषा की कविताएँ 'रस-कलश' में सकलित हैं। खड़ी बोली की ओर ये शीघ्र ही आकृष्ट हो गये थे। इन्होंने उर्दू छन्दो और मुहावरो मे काफी कविता की जिनके उदाहरण इस सग्रह में मिलेगे। इस तरह की लिखो कविता के अनेक सग्रह छप चुके है, जिनके नाम चोखे चौपदे, चुभते चोपदे, बोल-चाल आदि हैं। इन्होंने सन् १९१४ में अपना सबसे प्रसिद्ध काव्य 'प्रिय प्रवास' प्रकाशित किया, जिस पर इनको १२००) का मगलाप्रसाद पुरस्कार मिला। इस काव्य में श्रीकृष्ण के गोकुल से मथुरा चले जाने पर उनके प्रति ब्रजवासियो के प्रेम भावो का सुन्दर वर्णन है।

उपाध्यायजी सरल बोल-चाल की भाषा लिखने में जैसे सिद्धहस्त थे वैसे ही साहित्यिक भाषा में रचना करने में भी प्रवीण थे। ये ब्रज भाषा और खड़ी बोली दोनों मे कुशल कवि थे।

इनका देहात सन् १९४७ में हुआ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

एक बूंद

ज्यों निकल कर बादलों की गोद से,
थी अभी तक बूंद कुछ आगे बढ़ी।
सोचने फिर-फिर यही जी मे लगी
आ क्यों घर छोडकर मैं यों कढ़ी ॥१॥

देव मेरे भाग्य मे है क्या बदा,*
मैं बचूंगी या मिलूंगी धूल मे।
या जलूंगी गिर अगारे पर किसी,
चू पडूंगी या कमल के फूल में ॥२॥

बह गई उस काल इक ऐसी हवा,
वह समुद्र ओर आई अनमनी*।
एक सुन्दर सीप का मुँह था खुला,
वह उसी में जा पडी मोती बनी ॥३॥

लोग यों ही हैं झिझकते, सोचते,
जब कि उनको छोड़ना पडता है घर।
किन्तु घर का छोडना अक्सर इन्हें,
बूंद लौं कुछ और ही देता है कर ॥४॥

सच्चे-वीर

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

संकटों की तब करे परवाह क्या।
हाथ झंडा जब सुधारों का लिया॥
तब भला वह मूसलों को क्या गिने।
जब किसी ने ओखली मे सिर दिया॥
दूसरों को उबार* लेते हैं।
एक दो वीर ही विपद मे गिर॥
पर बहुत लोग पाक बनते हैं।
ठीकरा फोड़ दूसरों के सिर॥
सामने पा विपद की आँधियाँ।
वीर मुखड़ा नेक कुम्हालता नहीं॥
देखकर आती उमड़ती दुख-घटा।
आँख मे आँसू उमड़ आता नहीं॥
सब दिनों मुँह देख जोवट* के जिये।
लात अब कायरपने की क्यों सहें॥
क्यों न वैरी को विपद मे डालदे।
हम भला क्यों डालते आँसू रहें॥
वे कभी बात मे नहीं आते।
लग गई है कि जिन्हें सच्ची धुन॥
वे भला आप सूख जाते क्या।
मुख न सूखा जवाब सूखा सुन॥
काल की परवाह वीरों को नहीं।
वह रहे उनको भला ही लूटता॥
काम छेड़ा छूटता छोड़े नहीं।
टूटता है दम रहे तो टूटता॥

हंसते फूल

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

चौपदे

बरस जाये बादल मोती ।
या गिराये उन पर ओले ।।
बीच मे उन्हें डाल दे या ।
सुधा जैसे जल से धोले ।।१।।

हवा उनको चूमे आकर ।
या मिला मिट्टी मे देवे ।।
डाल दे उन्हें बलाओं मे ।
या बलायें उनकी लेवे ।।१।।

लुभाये गूँज-गूँज भौरा ।
या नरम दल उनके मसले ।।
रसिकता दिखलाये दिन-दिन ।
या खिसक जाए सब रस ले ।।३।।

तितलियाँ छटा दिखायें आ ।

बेचारे फूल

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

चौपदे

तितलियाँ नोचने लगी कुढ़कर ।
तंग करने लगे भ्रमर भूले ।।
आ लगाने लगी हवा धौलें ।
कौन फल-फूल को मिला फूले ।।१।।

है सताता समीप आ भौंरा ।
तितलियों ने न कब सितम ढाया ।।
छेदता-बेधता रहा माली ।
फूल ने रंग रूप क्यों पाया ।।२।।

पिंड छूटा कभी न भौंरों से ।
बेतरह तन हवा लगे हिलता ।।
मालियों से मिला न छुटकारा ।
है कहाँ चैन फूल को मिलता ।।३।।

छेदता है घड़ी-घड़ी माली ।
गांव पर किस तरह भला पावे ।।
कम बखेड़े न बाग बन में है ।
क्या करे फूल और कहाँ जावे ।।४।।

है हवा चोर मतलबी माली ।
क्या करे वह कि जी बचे जिससे ।।
भौंर हैं ढीठ तितलियां हलकी ।
फूल मुँह खोल क्या कहे जिससे ।।५।।

हंसते फूल

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

चौपदे

बरस जाये बादल मोती ।
या गिराये उन पर ओले ।।
बीच मे उन्हें डाल दे या ।
सुधा जैसे जल से धोले ।।१।।

हवा उनको चूमे आकर ।
या मिला मिट्टी मे देवे ।।
डाल दे उन्हें बलाओं मे ।
या बलाये उनकी लेवे ।।२।।

लुभाये गूँज-गूँज भौरा ।
या नरम दल उनके मसले ।।
रसिकता दिखलाये दिन-दिन ।
या खिसक जाए सब रस ले ।।३।।

तितलियाँ छटा दिखायें आ ।
रंगतें या उनकी खोयें ।।
गले मिल-मिल करके नाचे ।
या दुखायें उनके रोयें ।।४।।

रहे चुभते सब दिन काँटे ।
या बने उनके रखवाले ।।
ओस की बूँदों से बिलसें ।
या पडे कीटो के पाले ।।५।।

बेचारे फूल

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

चौपदे

तितलियाँ नोचने लगीं कुढ़कर !
तंग करने लगे भ्रमर भूले ॥
आ लगाने लगी हवा धौले ।
कौन फल-फूल को मिला फूले ॥१॥

है सताता समीप आ भौंरा ।
तितलियों ने न कब सितम ढाया ॥
छेदता-बेधता रहा माली ।
फूल ने रंग रूप क्यों पाया ॥२॥

पिंड छूटा कभी न भौंरों से ।
बेतरह तन हवा लगे हिलता ॥
मालियों से मिला न छुटकारा ।
है कहाँ चैन फूल को मिलता ॥३॥

छेदता है घड़ी-घड़ी माली ।
गांव पर किस तरह भला पावे ॥
कम बखेड़े न बाग वन में हैं ।
क्या करे फूल और कहाँ जावे ॥४॥

है हवा चोर मतलबी माली ।
क्या करे वह कि जी बचे जिससे ॥
भौंर हैं ढीठ तितलियाँ हलकी ।
फूल मुँह खोल क्या कहे जिससे ॥५॥

तरह-तरह के फूल

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

बेचारे फूल

(चौपदे)

किसलिए तो रहे महँकते वे।
कुछ घडी मे गई महँक जो छिन॥
क्या खिले जो सदा खिले न रहे।
क्या हँसे फूल जो हँसे दो दिन॥१॥

पँखडी देखकर गिरी बिखरी।
हैं कलेजे न कौन से छिलते॥
क्या गया भूल तब भ्रमर उन पर।
जब रहे फूल धूल मे मिलते॥२॥

यह बताता हमें नहीं कोई।
क्या मिलेगा वहाँ जहाँ खोजें॥
जो कि जी की कली खिलाता था।
आज उस फूल को कहाँ खोजें॥३॥

रग है वह नहीं, फबन* है वह
है नहीं वह महँक, नहीं वह रस।
अब कहाँ फूल का समाँ है वह
धूल में पँखडी पडी है बस॥४॥

"रह गया फूल ही नहीं" अब तो।
सज सकेंगी न पास की कलियाँ॥

साथ किसके फबन दिखा अपनी।
रंगरलियाँ मनायेगी कलियाँ ॥५॥

रोज के सैकड़ों बखेड़ों में।
वे न जाये बुरी तरह फाँसे॥
है खिलाती खुली हवा उनको।
फूल हैं ओस बूँद के प्यासे ॥६॥

है न गोरा वदन पसन्द उसे।
हैं न भातीं कलाईयाँ न्यारी॥
क्यों न उसमे भरे रहें कांटे।
है हरी डाल फूल को प्यारी ॥७॥

फूल से पूछता अगर कोई।
तो विहँस वह यही बता पाता॥
काम के हैं महल न सोने के।
है हमे वन हरा-भरा पाता ॥८॥

है न गहने पसन्द सोने के।
हैं न हीरे जड़े मुकुट भाते॥
हैं लुभाते उन्हें हरे पत्ते।
हैं कली देख फूल खिल जाते ॥९॥

चाह उसको न मन्दिरों की है।
वह मठों से न रख सका नाते॥
फूल का प्यार क्यारियों से है।
है बगीचे उसे बहुत भाते ॥१०॥

अनूठी बातें

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

जो वहुत वनते हैं उनके पास से।
चाह होती है कि कब कैसे टलें॥
जो मिलें जी खोल कर, उनके यहां।
चाहता है जी कि सर के वल चलें॥१॥

और की खोट देखती वेला।
टकटकी लोग बांध देते हैं॥
पर कसर देखते समय अपनी।
वेतरह आंख मूँद लेते है॥२॥

तुम भली चाल सीख लो चलना।
और भलाई करो भले जो हो॥
धूल मे मत वटा करो रस्सी।
आख मे धूल डालते क्यों हो॥३॥

सध सकेगा काम तब कैसे भला।
हम करेंगे साधने मे जब कसर॥
काम आयेंगी नहीं चालाकियां।
जब करेंगे काम आंखे बन्द कर॥४॥

खिल उठे देख चापलूसों को।
दे वैलौस को कुढे आखें॥
क्या भला हम बिगड न जायेंगे।
जब हमारी विगड गई आखें॥५॥

तब टले तो हम कहीं से क्या टले ।
डांट बतला कर अगर टाला गया ॥
तो लगेगी हाथ मलने आबरू ।
हाथ गरदन पर अगर डाला गया ॥६॥

है सदा काम ढंग से निकला ।
काम बेढंगापन न देगा कर ॥
चाह रख कर किसी भलाई की ।
क्यों भला हों सवार गरदन पर ॥७॥

बेहयाई, बहँक बनावट ने ।
कस किसी ने नहीं दिया शिकञ्जे मे ॥
हित-ललक* से भरी लगावट ने ।
कर लिया है किसे न पंजे में ॥८॥

फल बहुत ही दूर छाया कुछ नहीं ।
क्यों भला हम इस तरह के ताड़ हों ॥
आदमी हों और हों हित से भरे ।
क्यों न मूठी भर हमारे हाड़ हों ॥६॥

बीनना, सीना, पिरोना, कातना,
गूंधना, लिखना न आता है कहें ॥
काम की यह बात है हर काम में
बैठता है हाथ बैठाते रहें ॥१०॥

बेतरह बेध बेध क्यों देवे ।
भेद है जीभ और नेजे में ॥

वात से छेद छेद करके क्यों ।
छेद कर दे किसी कलेजे मे ॥११॥

जीभ को वस मे रखें काया कसें ।
क्यों लहू करके किसी का सुख लहे ॥
मारना जी का वहुत ही है वुरा ।
जी न मारें मारते जी को रहें ॥१२॥

चाहिए सारे वखेड़े दूर कर ।
वात आपस की उठाने को उठें ॥
आख उठती दीन दुखिया दर रहे ।
पाव गिरतों को उठाने को उठें ॥१३॥

—०—

वैदेही वनवास

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

जानकी ने कहा—प्रभु मैं
उस पथ की पथिका हूँगी ॥
उभरे कॉटों में से ही ।
अति सुन्दर सुमन चुनूंगी ॥

पद-पकज-पोत[१] सहारे
ससार समुद्र तरूंगी ॥
वह क्यों न हो गरल[२] वाला ।
मैं सरस सुधा ही लूगी ॥

शुभ-चिन्तकता के बल से।
क्यों चिन्ता चिता बनेगी॥
उर निधि व्याकुलता सीपी।
हित मोती सदा जनेगी॥
प्रभु चित्त विमलता* सोचे।
धुल जायेगा मल सारा॥
सुर सरिता बन जायगी।
आँसू की बहती धारा॥
कर याद दयानिधता की।
भूलूंगी बातें दुःख की॥
उर-तिमिर दूर कर देगी।
रति चन्द्र-विनिन्दक मुख की॥
मैं नहीं बनूंगी व्यथिता।
कर सुधि करुणामयता की॥
मम हृदय न होगा विचलित।
अवगति* से सहृदयता की॥
होगी न वृत्ति वह जिससे।
खोऊँ प्रतीति जनता की॥
वृत्ति दीन न हूँगी समझे।
गति धर्म धुरन्धरता* की॥
कर भव-हित सच्चे जी से।
मुझमें निर्भयता होगी॥
जीवन-धन के जीवन में।
मेरी तन्मयता होगी॥

—:०:—

यशोदा-विलाप

(अयोध्यासिंह उपाध्याय)

प्रिय-पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
दुख-जल-निधि-डूबी का सहारा कहाँ है?
लख* मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है?
पल-पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी।
निशि दिन जिसके मैं ध्यान मे थी बिताती।
उर पर जिसके है सोहती मुक्त-माला।
वह नव नलिनी के से नेत्र वाला कहाँ है?
सह कर कितने ही कष्ट औ सकटों को।
वहु यजन करा के पूज के निर्जरों को॥
इक सुवन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा।
प्रियतम! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है?
मुखरित करता जो सद्म को था शुकों सा।
कलरव करता था जो खगों सा वनों मे।
सुध्वनित पिक लौं जो वाटिका* था बनाता।
वह बहुविध कंठों का विधाता कहाँ है?
जिस प्रिय बिन सूना ग्राम सारा हुआ है।
सकल सदन मे ही छा गई है उदासी॥
जिस बिन ब्रज भू में है न होता उजाला।
वह निपट निराली कान्ति वाला कहाँ है?
बन-बन फिरती हैं खिन्न गाये अनेकों।
शुक भर-भर आँखे गेह को देखता है॥
ये कर जिसकी है सारिका नित्य रोती।
वह निधि मृदुता* का मजु मोती कहाँ है?

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' (१८६६—१६३२)

परिचय

श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म काशी में सन् १८६६ में हुआ। बचपन में ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्पर्क में आये थे। इन्होंने सन् १८८८ से ब्रजभाषा में कविता लिखनी आरम्भ की। इनके रचे काव्यों में हरिश्चन्द्र, उद्धवशतक, और गंगावतरण बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी सारी कविताओं का संग्रह 'रत्नाकर' नाम से प्रकाशित हुआ है। आजकल ये ब्रज-भाषा के सबसे श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी भाषा में ओज और मधुरता पायी जाती है। 'गंगावतरण' पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से इनको ५००) का पुरस्कार मिला था,

इनका देहान्त १६३२ में हुआ।

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

शैव्या-विलाप

देखी सहित विलाप रोवति इक नारी।
धरे सामुहैं मृतक देह इक लघु आकारी॥
कहति पुकारि पुकारि--"वत्स, मैया मुख हेरौ।
वीर पुत्र ह्वै ऐसे कुसमय* आँखि न फेरौ॥
हाय हमारौ लाल लियौ इमि लूटि विधाता।
अब काकौ मुख जोहि जोहिं जीवै यह माता॥
पति त्यागै हूँ रहे प्रान तव छोह सहारे।
सो तुम हूँ अब हाय विपति मे छाँडि सिधारे॥
अबहिं साँझ लौं तौ तुम रहे भली विधि खेलत।
औचकहीं मुरझाइ परे मम भुज मुख मेलत॥
हाय न बोले बहुरि इतोही उत्तर दीन्ह्यौ।
'फूल लेत गुरु हेत साँप हमकौ डसि लीन्ह्यौ'॥
गयौ कहाँ सो साँप आनि क्यौं मोहु डसत ना।
अरे प्रान किहिं आस रह्यौ अब वेगि नसत ना॥
कबहुँ भाग वस प्राननाथ जौ दरसन दैहैं।
तौ तिनकौ हम वदन कहो किहिं भाँति दिखैहैं॥
उन तौ सौंप्यौ हमैं दसा हम यह करि दीन्ही।
हाय हाय क्यौं सुमन चुनन की आयुस दीन्हीं॥
अहो नाथ अब तो आवौ इत नैकु कृपा करि।
लेहु निरखि निज हृदय-खंड कौ वदन नैन भरि॥

आन दंड दै हमैं कष्ट सव वेगि निवारौ।
सुनत क्यौं न इहिं वेर फेर निज न्याव सम्हारौ॥

हाय वत्स किन सुनि पुकारि मैया की जागत।
अरे मरे हूँ पै तुम तौ अति सुन्दर लागत"॥

करि विलाप इहिं भाँति उठाई मृतक उर लायौ।
चूमि कपोल* विलोकि* वदन निज गोद लिटायौ॥

हिय-वेधक यह दृश्य देखि नृप अति दुख पायौ।
सके न सहि विलगाई नैकुं हटि सीस नवायौ॥

लगे कहन मन माहि—"हाय याकौ दुख देखत।
हम अपनोहूँ दुसह दु:ख न्यूनहिं करि लेखत॥

ज्ञात होत काहू कारन याकौ पति छूट्यौ।
पुत्र-सोक कौ वज्र हृदय ताहू पर टूट्यौ॥

हाय हाय याकौ दुख देखत फाटति छाती।
दियौ कहा दुख अरे याहि विधना दुरघाती॥

हाय हमैं अव याहूँ कौ माँगन कर परिहै।
पै याकै सौहैं कैसे कैसे यह वात निकरि है"॥

पुनि भूपति कौ ध्यान गयौ ताके रोवन पर।
विलखिविलखि इमि भापि सीस धुनि मुख जोवन पर॥

पुत्र! तोहिं लखि भापत हे सव गुनी औ पंडित।
है है यह महाराज भोगि है आयु अखंडित॥

तिनके सो सव वाक्य हाय प्रतिकूल लखाए।
पूजा पाठ दान जप तप सव वृथा जनाए॥

तव पितु कौ दृढ़-सत्य-व्रतहु कछु काम न आयौ।
वालपनेहिं मैं मरे जथा विधि कफन न पायौ"॥

रामचन्द्र शुक्ल

पहली झलक

नगर से दूर कुछ गांव की-सी वस्ती एक,
हरे-भरे खेतों के समीप अति अभिराम* ।
जहाँ पत्र-जाल अतराल* से झलकते हैं,
लाल खपरैल श्वेत छज्जों के सवारे धाम ॥
वीचों वीच वट वृक्ष खड़ा है विशाल एक
झूलते हैं वाल कभी जिसकी जटाएँ थाम ॥
चढि मंजु मालती लता है जहाँ छाई हुई,
पत्थर की पट्टियों की चौकियाँ पडी हैं श्याम ॥१॥

भूरी हरी घास आसपास फूली सरसों है,
पीली-पीली विंदियों का चारों ओर है प्रसार ।
कुछ दूर विरल, सघन फिर और आगे,
एक रग मिला चला गया पीत-पारावार ॥
गाढी हरी श्यामता की तुंग राशि-रेखा घनी,
वाँधती है दक्षिण की ओर से घेरघार—
जोडती है जिसे खुले नीले नभ-मडल से,
धुँधली सी नीली नगमाला उठी धुँआधार ॥२॥

अकित नीलाभ रक्त-गर्भ श्वेत सुमनों से,
मटर के फैले हुए घने हरे जाल मे ।
फलियाँ है करती सकेत जहाँ मुडते हैं
और अधिकार का न ज्ञान इस काल में ।

बैठते हैं प्रीति-भोज-हेतु आस पास सब,
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में।
हाँक पर एक साथ पंखों ने सराटे भरे,
हम मेड़-पार हुए एक ही उछाल में ॥३॥

सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई,
लाल-लाल काइयों की भूमि पार करते—
गहरे पड़े गोपद* के चिह्नों से अंकित जो,
श्वेत बक जहाँ हरी दूब* में विचरते ॥
बैठ कुछ काल एक पास के मधूक* तले,
मन में सन्नाटे का निराला सुर भरते।
आये 'शरपत्र' के किनारे जहाँ रूखे खुले,
टीले कँकरीले हैं हेमन्त मे निरखते* ॥४॥

—:०:—

वसन्त पथिक

(रामचन्द्र शुक्ल)

देखो पहाड़ी से उतरता पथिक है जो इस घड़ी,
है अरुण* पथ पर दूर तक जिसकी बड़ी छाया पड़ी।
छिपकर निकलता टहनियों के बीच से झुकता कभी;
और फिर उलझकर झाड़ियों मे घूम कर रुकता कभी।
आकर हुआ नीचे खड़ा, अब सामने उसको चली—
फैली हुई कुछ दूर तक वन की घनी रम्य स्थली।
कचनार कलियों से लदे फूले समाते हैं नहीं,
नंगे पलासों* पर पड़ी है राग की छींटे कहीं।

रामचन्द्र शुक्ल

पहली झलक

नगर से दूर कुछ गांव की-सी बस्ती एक,
हरे-भरे खेतों के समीप अति अभिराम* ।
जहाँ पत्र-जाल अंतराल* से झलकते हैं,
लाल खपरैल श्वेत छज्जों के सवारे धाम ॥
बीचों बीच बट वृक्ष खड़ा है विशाल एक
झूलते हैं बाल कभी जिसकी जटाएँ थाम ॥
चढ़ि मजु मालती लता है जहाँ छाई हुई,
पत्थर की पट्टियों की चौकियाँ पड़ी हैं श्याम ॥१॥

भूरी हरी घास आसपास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिंदियों का चारों ओर है प्रसार ।
कुछ दूर विरल, सघन फिर और आगे,
एक रग मिला चला गया पीत-पारावार ॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुग राशि-रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर से घेरघार—
जोडती है जिसे खुले नीले नभ-मडल से,
धुँधली-सी नीली नगमाला उठी धुँआधार ॥२॥

अंकित नीलाभ रक्त-गर्भ श्वेत सुमनों से,
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में ।
फलियाँ है करती सकेत जहाँ मुड़ते हैं
और अधिकार का न ज्ञान इस काल मे ।

बैठते हैं प्रीति-भोज-हेतु आस पास सब,
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में।
हाँक पर एक साथ पंखों ने सराटे भरे,
हम मेड़-पार हुए एक ही उछाल में ॥३॥

सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई,
लाल-लाल काइयों की भूमि पार करते—
गहरे पड़े गोपद* के चिह्नो से अंकित जो,
श्वेत बक जहाँ हरी दूब* में विचरते ॥
बैठ कुछ काल एक पास के मधूक* तले,
मन में सन्नाटे का निराला सुर भरते।
आये 'शरपत्र' के किनारे जहाँ रूखे खुले,
टीले कँकरीले हैं हेमन्त मे निरखते* ॥४॥

—:०:—

वसन्त पथिक

(रामचन्द्र शुक्ल)

देखो पहाड़ी से उतरता पथिक है जो इस घड़ी,
है अरुण* पथ पर दूर तक जिसकी बड़ी छाया पड़ी।
छिपकर निकलता टहनियों के बीच से भुकता कभी;
और फिर उलभकर भाड़ियों में घूम कर रुकता कभी।
आकर हुआ नीचे खड़ा, अब सामने उसको चली—
फैली हुई कुछ दूर तक वन की घनी रम्य स्थली।
कचनार कलियों से लदे फूले समाते हैं नहीं,
नंगे पलासों* पर पड़ी है राग की छींटें कहीं।

ऊँची कँटीली झाडियाँ भी पत्तों से हैं मढी,
हलकी हरी, अब तक न जिन पर श्यामता कुछ भी चढ़ी।
सुन्दर दलों के बीच में काँटे छिपे हैं, थामना!
जैसे भलों के सग मे खोटे जनों की कामना।
पौधे जिन्हें पशु नोचकर सब ओर ठूठे कर गये,
वे भी सभल कर फेंकते है फिर हरे कल्ले नये।
वे पेड जिन पर बैठते कौवे लजाते थे कभी,
कैसे चहकते आज हैं उन पर जमे पत्ती सभी!
कटते हुए अब खेत भूरे सामने आने लगे,
जिनमे गिरे कुछ भाग से ही भाग चिड़ियों के जगे।
सूहे वसन्ती रग के चल अङ्क-सी मृदुगामिनी*,
है डोलती इस भूमि की भूरी प्रभा में भामिनी*।
लिपटे हुए द्रुम* जाल में वह झाँकते हैं झोंपड़े,
जो अन्न के शुभ्र सत्र-से सब प्राणियों के हित खड़े,
जो शान्ति औ सन्तोप के सुख सदा रहते भरे,
मिलता जहाँ विश्राम है दिन के परिश्रम के परे।
आकर समीर प्रभात ही वन खेत से सौरभ* लिये,
है खेलता प्रति द्वार पर हिम विन्दु को चञ्चल किये,
भोली लजीली नारियों से नित्य ही आकर जहाँ
है पूछ जाता आड मे छिपकर पपीहा "पी कहाँ?"
छेडा पथिक को एक ने हँसकर "इधर जाते कहाँ?"
वह राह टेढी है।" कहा उसने "नहीं चिन्ता यहाँ।"
कब घेर सकती है उसे चिन्ता भला निज छेम* की,
जिसके हृदय मे जग रही है ज्योति पावन प्रेम की?
छायी गगन पर धूल है, निखरी निरी निर्मल मही,
मानों प्रकृति के अग पर मञ्जुल मृदुलता ढ़ल रही।

देखो जहाँ अमराइयाँ हैं मौरकर उमड़ी हुई,
कञ्चनमयी* पीली-प्रभा सौरभ लिये पड़ती चुई।
यह आम की मृदु मञ्जरी* अब मन्द मारुत से हिली,
कूकीं कई मिलि कोयलें, टूटी पथिक—ध्यानावली।
तब देख चारों ओर उसने निज हृदय की टोह ली,
पायी नहीं आमोद के सञ्चार को उसमें गली।
चलता रहा चुपचाप, चट फिर बात यह उसने कही—
"धिक है रहे सन्तुष्ट हो सुषमा निरख जो आप ही।
सुनता रहे ध्वनि मधुर पर मन में न अपने यह गुने,
पास मे कोई नहीं है और जो देखे सुने।
वे धन्य है पर-ध्यान मे जो लीन ऐसे हो रहे,
जो दो हृदय के योग मे कुछ भूल अपने को रहे,
बांटे किसी सुख को सदा जो ताक मे रहते इसी,
जिनके वदन पर हास है प्रतिबिम्ब मानस का किसी।"
कोमल मधुर स्वर ने किसी पूछा वहीं कुछ झोंक से,
"बातें कहाँ की कर गये ? आते कहो किस लोक से ?"
देखा पथिक ने चौंककर पाया किसी को पर नहीं;
अचरज दबे पड़ने लगे पग मन्द मारग में वहीं।
बोला उभककर "पवन तूने कहाँ से ये स्वर छूए ?
अथवा हृदय से गूँजकर ये आप ही बाहर हुए ?"
इस बीच नीचे कुञ्ज से फिर से उड़ीं चिड़ियाँ कई,
सँग मे लगी कुछ दूर उनके दृष्टि भी उसकी गयी।
देखा पथिक ने दूर कुछ टीले सरोवर के बड़े,
हैं पेड़ चारों ओर जिन पर आम जामुन के खड़े।
हिलकर बुलाते प्रेम से प्रतिदिन हरे पत्ते जहाँ.
"आओ पथिक, विश्राम लो छिन छांह मे बसकर यहाँ।"

है एक कोने पर झलकता श्वेत मन्दिर भी वही,
हारे पथिक की दृष्टि है उस ओर ही अब लग रही।
बढ़ने लगा उस ओर अब, आयी वही ध्वनि फिर "रहो।
लेने चले विश्राम का सुख तुम अकेले क्यों कहो?"
यद्यपि घने सन्देह में थे भाव सब उसके अड़े।
मुँह से अचानक शब्द ये उसके निकल ही तो पड़े—
"बस में नहीं यह सुख उठाकर हम किसी के कर धरें
पथ के कठिन श्रम से न कुछ जब तक उसे पीड़ित करें।"
विस्मय-भरे मन से छलकती कल्पना छनछन नयी,
"छाया यहाँ छलती मुझे, यह भूमि है मायामयी।"
यह सोचते ही सामने आया रुचिर* मन्दिर वही,
जिसके शिखर पर डाल पीपल की पसर कर झुक रही।
प्रतिमा* पुनीत विराजती भीतर भवानीनाथ की,
आसन अचल पर है टिकी बाहर सवारी साथ की।
करके प्रणाम, विनीत स्वर से पथिक यह कहकर टला—
"क्या जान सकते हैं प्रभो, माया तुम्हारी हम भला?"
देखा सरोवर तीर निर्मल नीर मन्द हिलोर है,
जिसमे पडी तट-विटप छाया काँपती इक ओर है।
अति मन्द गति से दुर रही है पाँति बगलों की कहीं,
बैठी कहीं दो-चार चिड़ियाँ पख को खुजला रहीं।
झुककर द्रुमों की डालियाँ जल के निकट तक छा रहीं
जिनसे लिपट अनुराग से फूली लता लहरा रहीं।
सौरभ सनी, जलकण-मिली मृदु वायु चलती हो जहाँ,
होवे न क्यों फिर पथिक की काया शिथिल शीतल वहाँ?
उतरा पथिक जल के निकट फिर हाथ मुँह धोकर वहीं,
बैठा घने निज ध्यान मे, तन है कहीं औ मन कहीं।

हिलकर सलिल अब थिर* हुआ, उसमें दिखायी यह पड़ी
किस मोहनी प्रिय मूर्ति की छायामयी आकृति खड़ी ?
ताका उलटकर ज्यों पथिक ने खिलखिलाकर हँस पड़ी;
चञ्चल नवेली कामिनी जो पास थी पीछे खड़ी।
आभा अधर पर मन्द-सी मुसकान की अब रह गयी,
पलकें ढलीं पड़तीं, मधुरता ढालती मुख पर नयी।
पीले वसन* पर लहरतीं अलकें* कपोलों से छुई,
उस कुसुम-कोमल अङ्ग से छवि छूटकर पड़ती चुई।
जाने नहीं किस धार मे सुध-बुध पथिक की बह गई!
बीते अचल दृग से उसे तो ताकते ही छन कई।
कहता हुआ यह उठ पड़ा फिर, "हे प्रिये मम तुम कहाँ ?"
हँसकर मृदुल स्वर से वही कहती हुई "हो तुम जहाँ।"
उमड़े हुए अनुराग मे आतुर* मिले दोनों वहीं,
फूले हुए मन अङ्ग में उनके समाते है नहीं।
बैठे वहीं मिलकर परस्पर, कामिनी ने तब कहा—
"हमको यहाँ पर देखकर होगा तुम्हें अचरज महा;
चलकर यहाँ से दूर पर कुछ एक सुन्दर ग्राम है,
जिसमें हमारी पूज्यतम मातामही का धाम है:
ठहरी हुई हैं आजकल हम साथ जननी के वहाँ,
हम नित्य दर्शन हेतु शिव के नियम से आती यहाँ।
यह तो बताओ थे कहाँ, यह रीति सीखी है भली ?
जब से गये घर से नहीं तब से हमारी खोज ली।
हमने यही समझा, जगत की अन्त करके सब कला
होकर बड़े बूढ़े फिरोगे: क्या किया तुमने भला ?"
छोड़ो इन्हें ये प्रेम से जी खोलकर बोलें मिलें,
पाठक, यहाँ क्या काम अब ? हम आप अपनी राह लें।

—:o:—

मैथिलीशरण गुप्त (१८८६ —

परिचय

डाक्टर मैथिलीशरण गुप्त सन् १८८६ में चिरगाव (ज़िला झाँसी) में पैदा हुए। आप आधुनिक काल के प्रसिद्ध कवि हैं। इन्होंने फुटकर विषयों पर बहुत कविता लिखी हैं। इनका सबसे पहिला काव्य 'भारत-भारती' है, जिसमें भारत के पुराने गौरव और आज की दुर्दशा का चित्र है। अधिकतर इन्होंने भारत के प्राचीन वीरों और महापुरुषों के बारे में छोटे-बड़े अनेक काव्य लिखे हैं। इनकी रचनाएँ ये हैं—भारत-भारती, जयद्रथ-वध, शकुन्तला, किसान, पचवटी, गुरुकुल, साकेत, यशोधरा, द्वापर आदि।

श्री गुप्त को हिन्दू सस्कृति और राष्ट्रीयता का कवि माना गया है। इनकी रचनायें धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राष्ट्रीय और साहित्यक सभी प्रकार की हैं। इनके छन्दों में अनेकरूपता है और कविता में वीर और करुण रस प्रधान हैं। अपने युग की सामाजिक और राजनीतिक भावनाओं को भी सुन्दर ढग से निभाया है। अपनी भाषा को बराबर सरल बनाने का यत्न किया है। इसी कारण इनकी भाषा निखरी सी है।

'साकेत' और यशोधरा' इनके सबसे प्रसिद्ध काव्य हैं। 'साकेत' पर इनको १२००) का मगलाप्रसाद पुरस्कार मिल चुका है। अभी आगरा यूनिवर्सिटी ने इनको पी-एच० डी० की उपाधि देकर इनकी सेवाओ का आदर किया है।

मैथिलीशरण गुप्त

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो—

पुरुष क्या पुरुपार्थ हुआ न जो
हृदय की सब दुर्बलता तजो।
प्रबल जो तुम में पुरुपार्थ हो—
सुलभ कौन तुम्हें न पदार्थ हो?
प्रगति के पथ में विचरो उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो—उठो ॥१॥

न पुरुपार्थ विना कुछ स्वार्थ है,
न पुरुपार्थ विना परमार्थ* है;
समझ लो यह वात यथार्थ* है—
कि पुरुपार्थ वही पुरुपार्थ है॥
भुवन में सुख शान्ति भरो उठो,
पुरुप हो पुरुपार्थ करो—उठो ॥२॥

न पुरुपार्थ विना वह स्वर्ग है;
न पुरुपार्थ विना अपवर्ग* है।
न पुरुपार्थ विना क्रियता कहीं।
न पुरुपार्थ विना प्रियता कहीं।
सफलता वर-तुल्य वरो उठो
पुरुप हो, पुरुपार्थ करो—उठो ॥३॥

न जिसमें पौरुष हो यहां—
सफलता वह पा सकता कहां?
अपुरुपार्थ भयंकर पाप है
न उसमें यश है न प्रताप है।

न कृमि-कीट समान मरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो—उठो ॥४॥

मनुज जीवन मे जय के लिये—
प्रथम ही दृढ़ पौरुष चाहिए।
विजय तो पुरुषार्थ विना कहाँ,
कठिन है चिर जीवन भी यहाँ।
भय नहीं, भव सिन्धु तरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो—उठो ॥५॥

यदि अनिष्ट अड़ें अड़ते रहें।
विपुल विघ्न पड़े, पड़ते रहें।
हृदय मे पुरुषार्थ रहे भरा
जलधि क्या, नभ क्या, फिर क्या धरा।
दृढ़ रहो, ध्रुव धैर्य धरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो—उठो ॥६॥

यदि अभीष्ट* तुम्हें निज स्वत्व है,
प्रिय तुम्हें यदि मान महत्व है।
यदि तुम्हें रखना निज नाम है,
जगत मे करना कुछ काम है।
मनुज! तो श्रम से न डरो, उठो,
पुरुष हो पुरुषार्थ करो—उठो ॥७॥

प्रकट नित्य करो पुरुषार्थ को,
हृदय से तज दो सब स्वार्थ को।
यदि कहीं तुम से परमार्थ* हो—
यह नश्वर देह कृतार्थ हो।
सदय हो, पर दुख हरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो—उठो ॥८॥

(माखनलाल चतुर्वेदी (१८८८—   )

परिचय

श्री माखनलाल का जन्म सन् १८८८ में होशंगाबाद में हुआ। ये बचपन से कविता करने लगे थे। स्वतन्त्रता के आन्दोलन में विशेष भाग लेते रहे। इसलिये इन का उपनाम 'भारतीय आत्मा' है। इन्हें जेल-यात्रा भी करनी पड़ी। इनकी कविता राष्ट्रीयता के रंग में रंगी हुई है। कहीं-कहीं आप की रचनाओं में रहस्यवाद की भी झलक है। इनकी अधिकतर रचनायें किसी अवसर या विशेष घटना के आधार पर लिखी गई हैं। परन्तु ये राष्ट्रीयधारा के प्रतिनिधि कवि माने गये हैं।

'हिम-किरीटिनी' इनकी रचनाओं का संग्रह है। आप खण्डवा से चिरकाल तक 'कर्मवीर' का संपादन करते रहे हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी

सिपाही

गिनो न मेरी श्वास
छुए क्यों मुझे विपुल सम्मान ?
भूलो ऐ इतिहास,
खरीदे हुए विश्व-ईमान !!
अरि-मुंडो का दान,
रक्त-तर्पण*भर का अभिमान,
लड़ने तक महमान,
एक पूंजी है तीर-कमान।
मुझे भूलने में सुख पाती,
जग की काली स्याही,
दासो दूर, कठिन सौदा है
मैं हूँ एक सिपाही।

क्या वीणा की स्वर स्वर-लहरी का
सुनूँ मधुरतर नाद ?
छि ! मेरी प्रत्यंचा*भूले
अपना यह उन्माद !
झंकारों का कभी सुना है
भीषण वाद-विवाद !
क्या तुम को है कुरु-क्षेत्र
हलदी-घाटी की याद ?
सिर पर प्रलय, नेत्र मे मस्ती,
मुट्ठी मे मन-चाही,

लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है,
मैं हूँ एक सिपाही !

खींचो रामराज्य लाने को,
भू-मण्डल पर त्रेता* !
बनने दो आकाश छेद कर
उसको राष्ट्र—विजेता,
जाने दो, मेरी किस
बूते कठिन परीक्षा लेता,
कोटि-कोटि 'कंठों' जय-जय है
आप कौन हैं, नेता ?
सेना छिन्न, प्रयत्न खिन्न कर,
लाये न्योत तबाही
कैसे पूँजू गुमराही को
मैं हूँ एक सिपाही !

बोल अरे सेनापति मेरे !
मन की घुंडी खोल,
जल, थल, नभ, हिल-डुल जाने दे,
तू किंचित मत डोल !
दे हथियार या कि मत दे तू
पर तू कर हुँकार,
ज्ञातों को मत अज्ञातों को.
तू इस बार पुकार !
धीरज रोग, प्रतीक्षा चिन्ता.
सपने बने तबाही,

कह "तैयार" ! द्वार खुलने दे,
मैं हूँ एक सिपाही !
वदले रोज़ वदलियाँ, मत कर
चिन्ता इसकी लेश,
गर्जन-तर्जन रहे, देख !
अपना हरियाला देश !
खिलने से पहले टूटेंगी,
तोड बता मत भेद,
वनमाली, अनुशासन की
सूजी से अन्तर छेद !
श्रम-सीकर* प्रहार पर जीकर,
वना लक्ष्य आराध्य,
मैं हूँ एक सिपाही, वलि है,
मेरा अन्तिम साध्य !

कोई नभ से आग उगल कर
किये शान्ति का दान,
कोई मॉज रहा हथकड़ियाँ
छेड़ क्रान्ति की तान !
कोई अधिकारों के चरणों
चढ़ा रहा ईमान,
'हरी घास शूली से पहले
की' –तेरा गुण गान !
आशा मिटी, कामना टूटी,
विगुल वज पड़ी यार !
मैं हूँ एक सिपाही ! पथ दे,
खुला देख वह द्वार !!

— o —

जयशंकर प्रसाद (१८८६—१९३७)

परिचय

प्रसाद का जन्म काशी के 'सु घनी साहू' नामक के एक बड़े घराने मे सन् १८८६ में हुआ। इनके पिता बाबू देवीप्रसाद तम्बाकू के विख्यात व्यापारी थे और बड़े उदार पुरुष थे। श्री प्रसाद होनहार थे। १५ साल की अवस्था में ही कविता करने लगे थे। पहले ये पुराने विषयों पर कविता लिखते थे। बाद में ये रहस्य भावो से भरी नये ढग की कविता रचने लगे। इसलिये इनको 'रहस्यवाद' और .'छायावाद' का नेता माना जाता है। ये कवितायें 'कानन-कुसुम' 'झरना' और 'लहर' में मिलती है। 'आंसू' में प्रेम-वेदना का सुन्दर चित्र पाया जाता है। इनका सर्वश्रेष्ठ काव्य 'कामायिनी' है।

प्रसाद जी प्रमुख कवि ही नहीं असाधारण नाटककार और कहानी तथा उपन्यास लेखक भी हैं। इनके नाटको मे भारत के प्राचीन गौरव का सुन्दर चित्रण मिलता है। 'अजातशत्रु' 'स्कन्द गुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'कामना' आदि इनके रचे नाटक हैं। इनकी कहानिया 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आधी', 'इन्द्रजाल' नाम की पुस्तको मे मिलती है। इन्होंने ककाल और 'तितली' दो उपन्यास भी लिखे है। इनको 'कामायनी' पर मगलाप्रसाद पुरस्कार मिला था।

इनकी मृत्यु सन् १९३७ में हुई। इनके अकाल निधन से हिन्दी-साहित्य को बड़ा आघात पहुँचा है। इतनी बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न अभी तक हिन्दी में दूसरा लेखक पैदा नहीं हुआ है।

जयशंकर प्रसाद

बाल-क्रीड़ा

हँसते हो तो हँसो खूब, पर लोट न जाओ
हँसते-हँसते आँखों से मत अश्रु बहाओ
ऐसी क्या है बात ? नहीं जो सुनते मेरी
मिली तुम्हें क्या कहो कहीं आनद की ढेरी
ये गोरे-गोरे गाल हैं लाल हुए अति मोद* से
क्या क्रीड़ा करता है हृदय किसी स्वतन्त्र विनोद से

उपवन के फल-फूल तुम्हारा मार्ग देखते
काँटे ऊँचे नहीं तुम्हें हैं एक लेखते
मिलने को उनसे तुम दौडे ही जाते हो
इसमे कुछ आनन्द अनोखा पा जाते हो
माली बूढा बकबक किया करता है, कुछ बस नहीं
जब तुमने कुछ भी हँस दिया, क्रोधादि सब कुछ नहीं

राजा हो या रक* एक-ही-सा तुमको है
स्नेह-योग्य है वही हँसाता जो तुमको है
मान तुम्हारा महामानियों से भारी है
मनोनीत* जो बात हुई तो सुखकारी है
वृद्धों की गल्प कथा कभी होती जब प्रारम्भ है
कुछ सुना नहीं तो भी तुरत हँसने का आरम्भ है

— ० —

मिल जाओ गले

(जयशंकर प्रसाद)

देख रहा हूँ, यह कैसी कमनीयता*
छाया सी कुसुमित कानन में छा रही
अरे, तुम्हारा ही यह तो प्रतिविम्ब* है
क्यों मुझको भुलावते हो इनमें ? अजी
तुम्हें नहीं पाकर क्या भूलेगा कभी
मेरा हृदय इन्हीं काँटों के फूल में
जग की कृत्रिम उत्तमता का वस नहीं
चल सकता है, बड़ा कठोर हृदय हुआ
मानस-सर मे विकसित नव अरविन्द* का
परिमल जिस मधुर* को छू भी गया हो
कहो न कैसे वह कुरवक* पर मुग्ध हो
घूम रहा है कानन मे उद्देश्य से
फूलों का रस लेने की लिप्सा नहीं
मधुकर को वह तो केवल है देखता
कहीं वही तो नहीं कुसुम है खिल रहा
उसे न पाकर छोड़ चला जाता अहो
उसे न कहो कि वह कुरवुक-रस लुब्ध है
हृदय कुचलने वालों से, अभिमान के
नीच, घमण्डी जीवों से वस कुछ नहीं
उन्हें घृणा भी करती सदा नगण्य है
वह दब सकता नहीं, न उनसे मिल सके
जिसमे तेरी अविकल* छवि छा रही
तुमसे कहता हूँ प्रियतम ! देखो इधर
अब न और भटकाओ: मिल जाओ गले

होली की रात

(जयशंकर प्रसाद)

बरसते हो तारों मे फूल
छिपे तुम नील पटी में कौन ?
उड रही है सौरस की धूल
कोकिला कैसे रहती मौन ।

चाँदनी धुली हुई है आज
बिछलते हैं तितली के पख ।
सम्हलकर, मिलकर बजते साज
मधुर उठती है तान असख ।

× × ×

तरल हीरक *लहराता शान्त
सरल आशा सा पूरित लाल।
सितावी छिडक रहा विधु कान्त
बिछा है सेज कमलिनी जाल।

पिये, गाते मनमाने गीत
टोलियाँ मधुपों की अविराम ।
चल आतीं, कर रहीं अभीत
कुमुद पर बरजोरी विश्राम ।

× × ×

उडा दी मन गुलाल सी हाय
अरे अभिलाषाओं की धूल ?
और ही रग नहीं लग जाय
मधुर मंजरियाँ जावें भूल ।

विश्व में ऐसा शीतल खेल
हृदय में जलन रहे, क्या बात !
स्नेह से जलती ज्वाला झेल
बना ली हाँ, होली की रात !

—:०:—

अव्यवस्थित—

(जयशंकर प्रसाद)

विश्व के नीरव निर्जन में।
जब करता हूँ बेकल, चंचल,
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता है भ्रान्त,
भटकता है भ्रम के वन मे,
विश्व के कुसुमित कानन मे।
जब लेता हूँ आभारी हो
वल्लरियों से दान,
कलियों की माला बन जाती,
अलियों का हो गान,
विकलता बढ़ती हिमकन मे,
विश्वपति, तेरे आँगन में।
जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित* विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार,
चमत्कृत* होता हूँ मन में
विश्व के नीरव निर्जन मे।

गोपाल शरण सिंह (१८६१—

परिचय

ठाकुर गोपालशरणसिंह सन् १८६१ में पैदा हुए। इन को वचपन से ही कविता करने का शौक है। पहले व्रजभाषा में लिखते थे, पीछे इन्होंने खडी बोली को अपनाया। भारत के पुराने गौरव को जगाने का काम कविता मे सफल रूप में किया। ये हिन्दी, सस्कृत, और अग्रेजी के विद्वान है। इनका निवास स्थान नई गढी है जो रीवाँ राज्य में है।

माधवी, कादवनी, मानवी ज्योतिष्मती, और सचिता इन की कविताओ के सग्रह हैं।

गोपालशरणसिंह

प्रभात

सोने का संसार !

उषा छिप गई नभस्थली में
देकर यह उपहार ।

लघु-लघु कलियाँ भी प्रभात में
होती हैं साकार ।

प्रात-समीरण कर देता है
नव-जीवन-सचार ।

लोल-लोल लहलही लतायें
स्वर्णमयी सुकुमार ।

झुकी जा रही हैं ले तन में
नव-यौवन का भार ।

भ्रमर छूट कर पंकज-दल से
करने लगे विहार ।

भानु-करों ने खोल दिया है
कारागृह का द्वार ।

कल-किरणें हैं शयन-सदन* की
मंजुल वंदनवार ।

सजनी रजनी की सुख-स्मृति ही
बस अब है आधार ।

—:o:—

शिक्षा

(गोपालशरणसिंह)

शिशु ने दुनिया मे आकर
रो-रो कर हँसना सीखा,
लघु होकर बढ़ना सीखा
गिर-गिर कर चलना सीखा।

वीरों ने इस वसुधा मे
मर-मर कर जीना सीखा;
प्रेमी ने आँसू पी-पी
अधरामृत पीना सीखा।

कितने ही चक्कर खा कर
चक्रों ने चढ़ना सीखा,
भूखे प्यासे रह-रह कर
विहगों ने उडना सीखा।

उर छेद-छेद कर अपना
मुरली ने गाना सीखा,
मिट-मिट कर वारिधरों*ने
पानी बरसाना सीखा।

सिर पटक-पटक पत्थर पर
झरनों ने झरना सीखा,
गुरु गिरिवर से गिर-गिर कर
नदियों ने बहना सीखा।

पहले पतग ने आकर
निज देह जलाना सीखा,

जल-जलकर दीप-शिखा में
फिर प्रेम निभाना सीखा।

घट-बढ़ कर शशि ने जग को
पीयूष पिलाना सीखा;
नीचे गिर उदय-शिखर पर
सविता ने आना सीखा।

हो कैद कुञ्ज-कलिका में
अलि ने मँडराना सीखा;
हो छन्द-बद्ध कविता ने
प्रिय रस सरसाना सीखा।

—:०:—

मृदुकली

(गोपालशरणसिंह)

क्यों कुसुम की मृदुकली मुरझा गई ?

थी लता की गोद में सुख से पली,
प्यार करती थी उसे विपिनस्थली*,
मान देती थी उसे मधुपावली,
चित्त में क्या सोच कर घबरा गई ?
क्यों कुसुम की मृदुकली मुरझा गई ?

मञ्जु मधु के प्रेम से विकसित हुई,
भाव के उन्मेष* से पुलकित हुई,
देखकर अद्भुत जगत विस्मित हुई,
किस भयंकर स्वप्न से भय खा गई ?
क्यों कुसुम की मृदुकली मुरझा गई ?

कल कणों से तुहिन*के मज्जित हुई,
छवि-प्रभा-मणिमाल से सज्जित हुई,
मृदु पवन के स्पर्श से लज्जित हुई,
किस निठुर की याद उसको आ गई ?
क्यों कुसुम की मृदुकली मुरझा गई ?

मूकता* उसकी मधुर बोली रही,
मृदु पँखरियों की रुचिर चोली रही,
विपिन की नवकान्ति-सी भोली रही,
किस व्यथा से आज है कुम्हला गई ?
क्यों कुसुम की मृदुकली मुरझा गई ?

नव लता की मृदु मधुर मुसकान-सी,
सरलता की बाल-मूर्ति अजान-सी,
भावना की मृदमयी पहचान-सी,
क्या हुआ जो आज वह अलसा गई ?
क्यों कुसुम की मृदुकली मुरझा गई ?

— ० —

सीता

(गोपालशरण सिंह)

मिथिलाधिप की सुता लाडली कोमल-कान्त-विनीता ।
बनी यशस्वी कोशलेश की प्रिया-भार्य्या परिणीता ॥
छवि अनिन्दिता विश्व-वन्दिता वनिता परम पुनीता ।
दुःख-भोगिनी रही सर्वदा प्रेम योगिनी सीता ॥

जनक भूप के राज-भवन में क्रीड़ा करने वाली ।
रति सी और रमा सी अनुपम शोभामयी निराली ॥

प्रिय मानस की मञ्जु मराली* वह थी भोली-भाली ।
घिरती ही रह गईं घटाये उस पर काली काली ॥

प्राणनाथ ने किया वन-गमन मान पिता अनुशासन ।
था अभिषेक-समय मे कैसा दुखमय वह निर्वासन* ॥

पति के साथ त्याग सब वैभव सुखद राज-सिंहासन ।
वन-निवासिनी बनकर उसने ग्रहण किया कुश-आसन ॥

सुमनों की शय्या तज कर वह भूमि सेज पर सोई ।
दुख में उसने सुख माना पर कभी न पल भर रोई ॥

परिचारिका और परिचारक साथ नहीं था कोई ।
पर न तनिक भी वह घबराई बुद्धि न उसने खोई ॥

सुरभित पवन और निर्मल जल तरु की शीतल छाया ।
उसने पहले ही जीवन मे यह वर वैभव* पाया ॥

ऋषि कन्याओं से हिल मिल कर उसने प्रेम बढ़ाया ।
पशु पक्षी द्रुम लता आदि ने आदर उसे दिखाया ॥

हरे भरे सुन्दर वन में वह थी स्वच्छन्द विचरती ।
चुभते थे कुश कण्टक तो भी थी न तनिक भी डरती ॥

राजहंसिनी सी सरवर मे थी विहार वह करती ।
खिले सरोजों को कौतुक* वश थी आँचल मे भरती ॥

मृग शावक को कभी गोद मे लेकर थी सहलाती ।
कभी कपोती को निज कोमल कर पर थी बिठलाती ॥

केश राशि फहरा मोरों को थी वह कभी नचाती ।
कभी चकोरी को दिखला कर शशि मुख थी भरमाती ॥

मृदुल अंक मे प्राणनाथ के थी वह सुख से सोती ।
किन्तु चौंक कर जग जाने पर वह उदास थी होती ॥

देख उर्मिला को सपने में विरह-व्यथा से रोती ।
भूल विपिन का सुख-विलास सब थी वह धीरज खोती ॥
कौशल्या माता की ममता थी न भुलाई जाती ।
सुत वियोग से उनका रोना पीट पीट कर छाती ॥
उनकी याद यहाँ भी उसको बार-बार थी आती ।
उसके हृदय-रत्न जीवन-धन थे बस उसकी थाती* ॥
खिन्न देखकर उसे राम भी थे व्याकुल हो जाते ।
पर निज व्यथित हृदय के हरदम थे वे भाव छिपाते ॥
पोंछ विलोचन-वारि प्रेम से उसको गले लगाते ।
प्रेम-कहानी सुना-सुना कर थे वे जी बहलाते ॥
खिलती कभी, कभी मुरझाती थी वह लतिका मृदु-तन ।
पति के प्रेम वारि से खिंच कर रहती थी हर्षित-मन ॥
किन्तु नहीं चल सका बहुत दिन वह सुख-दुखमय जीवन ।
उसके तप्त आँसुओं ने ही क्या रच दिये सघन घन ?
लङ्काधिप ने उस अबला का किया हरण छल बल से ।
वह करुणा की मूर्त्ति बन गई भीगी लोचन ऽनल से ॥
रो सी उठीं दिशाएँ सारी सागर की हलचल से ।
अथवा आहें निकल रहीं थीं व्याकुल धरणी-तल से ॥
जो सर्वस्व त्याग कर भी थे हुए न विचलित मन में ।
वही धीर रघुवीर फिर रहे थे पागल-से वन मे ॥
हुई नहीं थी कभी प्रिया की विरह-व्यथा जीवन मे ।
वे इस भाँति विकल थे मानों प्राण नहीं थे तन मे ॥
कहते थे वे विटप-विटप से भर कर नीर नयन मे ।
'सखे ! बताओ छिपी जनकजा है किस कुंज-भवन मे ?

आज अकेली वासन्ती तू; है झूमती पवन में।
कहाँ गई है सजनी तेरी, मुझे छोड़ कानन में ?॥"
लगे सोचने राम शोक से होकर विह्वल मन मे।
क्या वह विद्युत् लता छिप गई, जाकर नन्दन-वन में ?॥
अथवा देख मञ्जु मुख उसका अनुपम भोले पन मे।
लज्जित शशि ने छिपा दिया है उसको शून्य गगन मे॥
खोज-खोज थक गये प्रिया को पर न राम ने पाया।
सन्ध्या हुई घोर तम उनके उर का जग मे छाया॥
तव लक्ष्मण को सम्बोधन कर दारुण दुःख सुनाया।
शोक-सिन्धु निर्जन वन में भी शीघ्र उमड़-सा आया॥
महा महिम मिथिला-नरेश की वह प्राणोपम कन्या।
शीलवती कुलवती छविमती अनुपम गुण-गण धन्या॥
त्रिभुवन में लक्ष्मण ! है वैसी कौन सुन्दरी अन्या ?
धिक् धिक् मैं जीवित हूँ अब तक खोकर प्रिया अनन्या॥
लक्ष्मण! अब मैं घोर विपिन में कहाँ चैन पाऊँगा ?
पर सीता के विना अयोध्या भी कैसे जाऊँगा ?॥
कौशल्या माता को किस विधि मैं मुँह दिखलाऊँगा ?।
जब पूछेगी कुशल-प्रश्न वह, क्या मैं बतलाऊँगा ?॥
भरत और शत्रुघ्न आदि से क्या मैं भला कहूँगा ?
सब स्वजनों के सम्मुख कैसे मैं स्थिर धीर रहूँगा ?॥
यह असह्य वेदना विरह की मैं किस भाँति सहूँगा ?
एकाकी जीवन सागर मे कब तक हाय. बहूँगा ?॥
नृप विदेह जिनको सीता थी सदा प्राण सम प्यारी।
होंगे कितने विकल श्रवण कर, सुता हरण दुखकारी ?

उनको समाचार यह भेजूँ किस विधि मैं बनचारी ?
लक्ष्मण ! तुम्हीं बताओ मेरी बुद्धि गई है मारी ॥"

शोकाकुल निज प्रिय अग्रज*को लक्ष्मण ने समझाया ।
पुनर्मिलन की आशा देकर कुछ-कुछ धैर्य बँधाया ॥

मर्मर के मिस लता-द्रुमों ने मानों यह बतलाया ।
दुष्ट दशानन*ने ले जाकर बन्दी उसे बनाया ॥

भारत-लक्ष्मी बन्दी-गृह मे कब तक बन्द रहेगी ?
यह अन्याय दुष्ट दशमुख का कब तक मही सहेगी ॥

कब तक दु सह दावानल*में वह मृदु लता बहेगी ?
कब तक धार कुपित सागर की लका मे न बहेगी ?

-- 'o' --

शकुन्तला

(गोपालशरण सिंह)

जिस आश्रम मे नित रहता था बस सुख-शान्ति निवास ।
वहाँ आज क्यों सब दिखते हैं चिन्तित और उदास ?

रहता था जो पुण्य-तपोवन सतत* कान्त प्रशात ।
किस पतझड के आ जाने से हुआ आज है क्लान्त ?

एक अपरिचित परिचित नृप का बस दो दिन का प्यार ।
तेरी लघु जीवन-नौका को छोड़ गया मंझधार ?

अमृतमयी प्रिय-प्रेम-मिलन की प्रथम निशा अज्ञात ।
किसे ज्ञात था होगी तेरे सुख की अन्तिम रात ?

माता और पिता ने तुझको दिया प्रथम ही त्याग ।
निठुर प्राणवल्लभ* ने भी अब छोड दिया अनुराग ।

थी तू वन की कुसुम-कली-सी सुखी और स्वाधीन।
किस निष्ठुर ने तुझे कर दिया अतिशय दीन मलीन ?

कौन कमी थी तुझको वन मे क्या था तुझे अभाव ?
तेरे सहचर पशु-पक्षी भी थे सब मृदुल-स्वभाव।

मूर्तिमान थे कण्व तपोधन तुझे पिता के स्नेह।
रखती थी गौतमी कृपा ही तुझ पर निस्सन्देह।

तू थी सुखी, सुखी थीं सखियाँ -सुखमय था वनवास।
किस निर्दय ने हरण कर लिया मृदु कलियो का हास ?

तुझे लता द्रुम भी दिखलाते थे सदैव अनुराग।
इस मनोज्ञ कानन से कैसे तुझको हुआ विराग ?

तरुणी ! तेरा विफल-प्रेम-तरु है बबूल दु.ख-मूल।
कंटक ही कंटक निकले हैं हैं न मधुर फल-फूल।

तुझ-सी भोली-भाली बाला होगी कौन अजान ?
एक अपरिचित जन को तूने सौंप दिये निज प्राण।

तेरे सुख-सुहाग का सविता तेजोमय अमलीन।
समुदित होते ही घन तम मे हाय ! हो गया लीन।

कानन में स्वच्छन्द विचरती विहगी पुलकित प्राण।
फँस वंचक के प्रेम जाल मे है मलीन म्रियमाण।

फुल्ल कमल-कानन-विलासिनी मृदु मरालिनी हाय !
मञ्जु मानसर त्याग मोहवश मरती है निरुपाय।

विकसित होती ही मुरझाया तेरा उर-जलजात।
सुप्रभात मे ही आ पहुँची निपट अँधेरी रात।

मणि-मण्डित प्रासाद भूप का सुख ऐश्वर्य महान।
तेरे लिए मयंकमुखी ! है केवल स्वप्न-समान।

वल्कल-वसन कठिन कुश-शय्या और सतत वनवास।
तेरे लिए यही है तरुणी ! जग में सौख्य-विलास ?

देखा करती तू कानन का चचल छाँह प्रकाश।
प्रतिबिम्बित है जिसमें तेरा प्रथम-उल्लास।

सपने में ही मिलता तुझको मिलने का आनन्द।
तुझे इसी मे सुख है बाले ! रहे सदा दृग बद।

भूल गया नृप, पर तू उसको किस विधि सकती भूल ?
वक्र चन्द्र के भी रहती हैं कुमोदिनी अनुकूल।

सघन छाँह मे जहाँ हुआ था प्रिय गान्धर्व विवाह।
अब भी बैठ देखती है तू निज प्रियतम की राह।

यह आश्रय, यह लता-भवन, यह सुखद-चाँदनी रात।
तुझ अभागिनी को होती है मृत्यु-पुलक-सी ज्ञात।

घेर रहे हैं सुख सरोज को अलिगण चारों ओर।
कौन बचावे, आज कहाँ है तेरे मन का चोर ?

आश्रय की खिल गई लतायें आया पुन वसत।
किन्तु नहीं आया है अब भी तेरा प्रिय दुष्यन्त।

यदि वरती तू ऋषि-कुमार को देकर जीवन-मोल।
देती हृदय किन्तु पाती भी हृदय-रत्न अनमोल।

सर्वनाश जिसने कर डाला तुझे न उस पर रोष।
बेचारे बूढ़े विधि को ही देती है तू दोष।

अनुसूया* एव प्रियवदा* रोतीं है चुपचाप।
भय है कही कण्व मुनि सुनकर दें न भू को शाप।

बहती हुई दृगों से तेरे यह अविरल जल-धार।
गूँथ रही है आज व्यर्थ ही ये मोती के हार।

देखा करता है मृग-शावक विस्मित तेरी ओर।
क्या समीर कहती है छूकर भीगा अंचल छोर!
हैं मोरनी नाचती तेरा मुक्त चिकुर अभिराम।
बाहु-लता पर बैठ कपोती करती है विश्राम।

गिरिवर-विरह-विकल-सरिता के तट पर बैठ अजान।
उसके साथ-साथ गाती है तू वियोग के गान।
लिपट कदंब-लता से कहती है तू मन की बात।
वासंती को गले लगाकर रोती है अज्ञात।

भेज चुकी है तू समीर से कितने ही सन्देश।
क्या न पवन भी कर पाता है नृप के निकट प्रवेश?
प्रिय-मुख-चन्द्र-चकोरी बन कर धरती है तू ध्यान।
पल भर दुःख भूल करती है मधुर सुधा-रस-पान।

केवल प्रिय-पद-पूजा की है तेरे मन में चाह।
और मनोरथ बहा चुका है लोचन-वारि-प्रवाह।

सुख-भोगिनी रही तू संतत दुःख-भोगिनी आज।
संयोगिनी नहीं, पर तू तो है प्रेम-योगिनी आज।
है जप-योग एक ही तेरा केवल प्रिय गुण-गान।
तपस्विनी! करती सदैव तू बस प्रियतम का ध्यान।

—:o:—

सियारामशरण गुप्त (१८६५—   )

परिचय

श्री सियारामशरण गुप्त का जन्म सन् १८६५ में, चिरगाव (झांसी) में, हुआ। आप श्रीमैथिलीशरण गुप्त के सगे भाई हैं। इनके पिता को कविता से बहुत प्रेम था। इसलिये इनको भी कविता लिखने का शौक था। इन की पहली कविता सन् १६१० में काशी के 'इन्दु' नामक मासिक पत्र में छपी। बाद को इनकी रचनायें 'सरस्वती' में छपने लगीं।

कविना, कहानी, उपन्यास, नाटक से इनको विशेष रुचि है। इन्होंने 'मौर्यविजय' 'अनाथ' 'विषाद' 'पाथेय' नामक कविता की पुस्तकें लिखी हैं। 'मानुषी' इनकी कहानियों का संग्रह है। 'नारी' और 'गोद' इनके उपन्यासों के नाम हैं।

आज के कवियों में इनका विशेष स्थान है।

सियारामशरणसिंह गुप्त

नवजीवन

अहा ! अचानक प्रबल वेग से
मुझमें नवजीवन आया !
आया, हाँ आया आया !
तरल तरंगों में उठ इसने
तन को मन को लहराया ,
लहराया, हाँ लहराया !

मुझ-जैसे छोटे नाले में
जहाँ नीर का नाम न था ,
सदानीर नद के रथ का रव
थर्थर स्वर से है छाया ।
छाया, हाँ छाया छाया !

पोतो दूर कहीं पावस से
आतप के मुँह पर स्याही ;
उसकी प्रथम विजय-वार्ता यह
प्रथम यहाँ मैं ही लाया ।
लाया, हाँ मैं ही लाया !

उछल-उछल कर, छूट-छूट कर
उभय तटों की कारा से ,
मुझमें आज असीम उठा है
ऐसा कुछ मैंने पाया ।
पाया, हाँ पाया पाया !

प्रलय-राग एक कड़ी-सी
मेरे मुँह से फूट पड़ी,
पागल होकर भैरव रव से
'हर-हर-हर' मैंने गाया।
गाया, हाँ गाया गाया !

जीवन की इस जल क्रीडा में
कूद पडा मैं ऊपर से,
मार्ग प्रस्तरों*से भिड़ मैंने
फेन-हास ही बरसाया।
बरसाया, हाँ बरसाया !

जब तक यह पानी है मुझमें
और नाच लूँ मैं यों ही,
कल की कल के लिये आज तो
मुझमे नवजीवन आया।
आया, हाँ आया आया !

—०—

सूर्यकान्तत्रिपाठी 'निराला' (१८६८—   )

परिचय

श्री निराला का जन्म मेदिनीपुर बंगाल में महिपादल नाम की एक छोटी सी रियासत में सन् १८६८ में हुआ था। बंगला इनकी मातृभाषा थी। हिन्दी इन्होंने बाद मे सीखी थी। पहले वे बंगला में कविता करते थे, फिर हिन्दी में करने लगे। आपने निराले ढंग की रचना प्रचलित की, इसलिए आपका 'निराला' नाम पड़ गया। आजकल आप रहस्यवाद और छायावाद के बड़े कवियो मे गिने जाते हैं। इनकी कविता में विचारों की गंभीरता होती है। इससे कहीं-कहीं वह साधारण लोगों का क्लिष्ट मालूम होती है; परन्तु अर्थ खुलने पर निराला की कविता का महत्त्व प्रकट होता है। ये ओजपूर्ण कविता लिखने में सिद्धहस्त हैं। इन्होंने छन्द, मात्रा और वर्ण के बन्धनों से मुक्त कविता भी लिखी है।

परिमल, गीतिका, अनामिका और नये पत्ते इनकी कविताओं के संग्रह हैं। इन्होंने तुलसीदास नामक काव्य भी लिखा है जिसमे गोस्वामी तुलसीदास के महत्त्व का वर्णन है। अप्सरा, अलका और निरुपमा इनके लिखे उपन्यास हैं।

निराला जी बड़े स्वाभिमानी कवि हैं। आजकल के कवियो मे ये प्रमुख हैं।

देखते देखा मुझे तो एक वार
उस भवन की ओर देखा, छिन्न तार,
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक छन के वाद वह काँपी सुघर,
ढुलके माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
"मैं तोड़ती पत्थर।"

— ० —

उदयशंकर भट्ट (१८६८   )

परिचय

पण्डित उदयशंकर भट्ट का जन्म सन् १८६८ मे आगरा मे हुआ। आपने सन् १६२६ से लिखने का काम आरम्भ किया है। इनकी फुटकर कविताये 'राका', 'विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष' में मिलती है। ये खड़ी बोली में रचना करते हैं। इनकी भाषा मजी हुई है। सुकवि होने के साथ-साथ ये नाटक रचना भी करते हैं। नाटकों के नाम विक्रमादित्य, दाहर, सिन्ध-पतन, अम्बा और सागर-विजय है। मत्स्यगन्धा और विश्वामित्र इनके भाव-नाटक हैं। 'कमला' नाटक मे किसान आदोलन और आजकल की सामाजिक विषमता का चित्रण है। इन्होने अनेक एकाकी नाटक भी लिखे हैं। इनका एक उपन्यास "वह जो मैंने देखा" भी छप चुका है। आजकल आल इण्डिया रेडियो दिल्ली मे काम करते है। इससे पहले सनातन धर्म कालिज, लाहौर मे हिन्दी अध्यापक का काम कर चुके हैं।

उदयशंकर भट्ट

बीत गया

पल-पल करके युग बीत गया !

भोली दुनिया के प्यार गये, सोने के वे संसार गये !
जब मिले न तब पहचान सका, जब चले गये तब जान सका !
प्राणों की पीडा में रह-रह जब प्यास जगी घट रीत गया !!

प्राणो को जब अरमान मिले, अरमानों को नव-गान मिले !
जब असफलता, अभिशापों* के, जीवन मे नव-वरदान मिले।
तब मैं मन-ही-मन हार गया अभिमान किसी का जीत गया।

हर सुबह जवानी आती है, हर साँझ कहीं छिप जाती है।
दिन पल-पल ढलता जाता है, जग पल-पल चलता जाता है।
पल पल मेरा भी 'वर्तमान जीवन' बन एक अतीत गया !

जो मिला, न वह रख ही पाया, जो गया, न वह फिर कर आया।
क्या होगा आगे ज्ञात नहीं, बतलाने वाला साथ नहीं !
आशा ही आशा में मेरा सारा जीवन बन बीत गया !

कोई बिखेरता जाता है, कोई समेटता जाता है।
निशि-दिन की चरखी पर जीवन-डोरी लपेटता जाता है !
कंकाल* मात्र वह आज बना जो जीवन बीत-पुनीत गया !!

—ः—

उद्बोधन

(उदयशंकर भट्ट)

दुख मे सुख की लहर छिपी है
सुख मे और सुखों की आशा

जीने में जीवन की इच्छा
'जीवन' जीवन की परिभाषा*

यहाँ ठहरना कहीं नहीं है
चलते जाओ, चलते जाओ
यह पथ अभी विराम कहाँ है
चलते जाओ, चलते जाओ

चढ़ो, चढ़ो, थक गये, चढ़ो
फिर जीवन-भूधर चढ़ना होगा
सोकर, जगकर, रोकर, हँसकर
चढ़ना होगा, बढ़ना होगा

पीछे तो केवल स्मृतियाँ हैं
" बीत चुका पथ 'भूत' मुसाफ़िर
आगे कुहरा चीर सको तो
बना बना पथ बढ़ो मुसाफ़िर

चढ़ते जाओ, बढ़ते जाओ
खींच रहा कोई आकर्षण
जहाँ गिरे बस, वहीं मरण है
ऊबड़ खाबड़ समतल जीवन

—:o:—

समन्वय

(उदयशंकर भट्ट)

देखा बहुत जगत का लेखा
घूम-घूम कर अन्तर देखा

सृजन, विसर्जन, पालन देखा
क्षण-क्षण का परिवर्तन देखा
कलि को कुसुमित होते देखा
और कुसुम को झड़ते देखा
ऋतु वसन्त का अट्टहास सुन
पतझड़ को झड़ पड़ते देखा
रवि द्वारा आवद्ध* उषा को
अंगारा वन जलते देखा
और अंगारों को संध्या के
सागर में बुझ चलते देखा
मन्द मन्द शीतल समीर को
झॅझाएँ वन जाते देखा
वज्रपात से अचल नगों की
निज ध्रुव से टल जाते देखा

मुँह फाड़े ज्वाला-मुखियों को
सर्व-ग्रास कर जाते देखा
महानाश-से वड़वानल* को
सागर को पी जाते देखा
बाँसों को अपने पेटों की
दावा मे जल जाते देखा
क्रूर साँपिनी को स्वभाववश
निज अण्डों को खाते देखा
लाल पंख पर नर्तन करते
मेघों का घर जलते देखा
टप-टप हृदय बहाकर अपना
खाली हाथ मसलते देखा

सरक-सरक कर धीरे-धीरे
शैशव यौवन बनते देखा
यौवन को मिट सिकुड़ जरा का
इति परिधान* पहनते देखा

अक्षय जीर्ण-कोश मे नव को
अपना रंग बदलते देखा
नव जीवन के तरुण वक्ष से
मैंने मरण निकलते देखा
आहुतियाँ देता है यह जग
स्वयं नाश की आग जला कर
होम रहा है परवश सा बन
केवल दो आँसू टपका कर
सब पथ इसी ओर को जाते
सब जीवन उस ओर भागते
इस सारे जड़ जंगम जग मे
आशा केंचुल वहीं त्यागते

—·०·—

सैनिक

(उदयशंकर भट्ट)

मैं कौन हूँ मैं कौन ?
मैं बोलता या मौन ?
क्या सोभ है सब ओर ?
चीत्कार कैसा घोर ?

यह कौन मेरे पास—
हा सत्य यह तो लाश ?

यह 'जौन' है या 'केन'
यह नहीं यह तो 'स्टेन'।

यह मर गया क्या हाय!
कैसा पड़ा असहाय,
है नहीं हिलता अंग,
क्या हो गया सब भंग?

यह जगत हाय अलीक*,
मैं जी रहा क्या ठीक?
मैं मर रहा हूँ हाय,
मैं जिया क्यों निरुपाय?

पीड़ा बड़ी शून्यांग?
क्या हो गया विकलांग?
उठता न मेरा हाथ?
क्या कट गया हे नाथ?

क्या हुआ मेरा सीस?
मानो दिया हो पीस!
है खून, क्या है खून?
देह दी किसने भून?

क्या टाँग भी है साथ?
हिलता नहीं क्यों माथ?
हिम वृष्टि रे, हिम वृष्टि?
सब श्वेत रक्तिम सृष्टि।

है कुछ न कोई भिन्न,
है नहीं नर का चिह्न!
हा क्या करूँ, हा पीर,
कैसा हृदय गत वीर

मैं कौन हूँ मैं कौन,
मैं बोलता या मौन ?
सब रक्त से हैं स्नात,
सब श्वेत रक्तिम गात,

मैं क्या करूँ हे ईश ?
यों ही मरूँ भर टीस ?
वह भरे गहरी याद,
कहने लगा सविषाद ?

× × ×

वह था नहीं मध्याह्न,
वह था कहीं पराह्न*
भू - भार - सा दुर्दान्त,
बीभत्स* रण का प्रान्त।

चीत्कार पूरित व्योम,
ध्वनि धुन्ध दावातोम।
नभ फाड़ती थी तोप,
चिंघाड़ती पग रोप।

बारूद से नभ पूर्ण,
रह शस्त्र करते घूर्ण।
भू-भाग वह शव सृष्टि,
मानो हुई शव वृष्टि।

उस समय आया याद,
कैसे हुआ बरबाद।
बोला नया स्वरताल,
ले स्मृति नई तत्काल।

× × ×

मैं हूँ कहाँ—भू पर कहाँ ?
क्या सब हुए—क्या गत हुए ?

कैसा विगत, कैसा सतत
कैसा अरे, क्या सब मरे ?

× × ×

मैं कौन हूँ, क्या मौन हूँ ?
भागो अरे, भागो अरे,
संभल बढ़ो, ऊपर चढ़ो
वह सामने हैं कुछ जने

उठता न सिर, गिरता रुधिर
क्या हाथ भी हैं, साथ भी ?
हा पीर अति, यह वीरगति ?

× × ×

यह क्या चला, यह क्या लगा !
कैसा तिमिर सब ओर घिर,
प्रलयान्त रव, उद्भ्रान्त भव,
बौछार-सा, अंगार-सा,

हुंकार-सा, संहार-सा,
क्या गरजता, क्या लरजता*,
क्या कांपता, क्या मापता,
यह क्या लगा, मैं गिर गया।

सब क्या हुए, हम क्या हुए !
सब शान्त था, मैं भ्रान्त था !

× × ×

हम सब चले, लगते भले,
अब अस्त्र ले, सब शस्त्र ले,

बन वीर सब, बन वीर सब,
निज देश-हित, उद्देशहित,

सैनिक अभय, ले बल हृदय,
बढ़ते हुए, चढ़ते हुए,
अड़ते हुए, लड़ते हुए,
हुँकारते, संहारते
दल चीरते, बलवीर-से
परिवार तज, सब शस्त्र सज,

था हर्ष अति, उत्कर्ष गति,
साहस-अटल, साहस-अचल.
थी तीव्र गति, थी तीव्र मति
उद्‍गार भर, संहार भर,
आकाश मे, अवकाश में,
कुछ यान* मे, बल प्राण में,
सब भूल जग, सब एक पग,
अडते चले, बढ़ते चले,

आँधी इधर, आँधी उधर,
चीत्कार था, संहार था,
सब ओर नर सब ओर स्वर,
संघर्ष था, उत्कर्ष था,
तोपें इधर. तोपें उधर,
थी गरजतीं, थी लरजतीं,
संहारतीं. फुफकारतीं,
मानो धरा वम उर्वरा।
बारूदमय औ' धूम्रमय,
ऊपर गगन, कर उद्वमन.
धुन्धाई कर. औ' मृत्यु भर,
बढ़ती चली. चढ़ती चली
यह रण-पथ यह रण-पथ!

हत ज्ञान वह अज्ञान।
निर्बल, अशक्त, अजान,
चुप हो गया निःशक्त,
मुख से बहा कुछ रक्त।

बोला नहीं कुछ देर,
डोला नहीं मुँह फेर,
दम किन्तु था श्रम व्यस्त,
मानो पड़ा आश्वस्त,

अनगिनत, कौए चील,
मंडरा रहे पर ढील,
उन्मत्त से अनुरक्त,
नर मांस के अति भक्त,

मंडरा रहे घिर घोर,
लड़ लड झगड़ सब ओर,
था विहग पूरित व्योम,
रोमांच रोम प्ररोम।

मानों युगों की प्यास,
हो गई पूर्वोल्लास,
थे कहीं टैंक विशाल
ऊपर उठाये भाल।

अनगिनत था सामान,
अनगिनत नर बेजान,
था कहीं लाश पहाड,
नर कहीं चिपके झाड।

कोई पड़े मुँह फाड,
कोई अड़े झखाड़

वारूद का ले वेग,
कोई गगन से रंग

थे गिर लटकते वृक्ष,
मानों जड़े सित रिक्ष
कोई उड़े ले मींच,
आकर टँगे तरु बीच।

आकाश-यान महान
नभ से गिरे असमान।
सब ओर नर-संहार
सब ओर रक्त-अपार।

आई निशा विकराल,
मानों बुलाए काल,
था तिमिर ध्वान्तागार,
मानो प्रलय साकार,

उस पर शिशिर हिमवर्ष,
भरने लगा उत्कर्ष।
सब श्वेत तिमिराकार,
सब तिमिर प्रेताकार,

× × ×

सैनिक जगा भर आह
सब देह में था दाह।
आँखें खुलीं कुछ बन्द,
कुछ ज्ञान मंद अमन्द।

उच्छ्वास से उड़ सिर्फ
उड़ गई मुंह से बर्फ।
मैं कौन हूँ क्या 'जान',
क्या सत्य सैनिक ज्ञान?

बाहर अन्धेरा खूब,
भीतर हृदय मे ऊब।
पीड़ा अनन्त, अपार,
कैसे सहूँ यह हार ?

वह स्निग्ध, सुन्दर मूर्ति,
चिर स्वप्न की मधुमूर्ति,
चिर सहचरी, चिर प्यार,
सब स्वप्न-सी साकार

पीयूष सी दो आँख
शशि-सी मधुर दो फाँक।
मेरे हृदय का गान,
साकार बनता जान।

भरकर उसी में प्राण,
वह बनी मेरी त्राण।
चिर पिपासमय वक्ष,
चिर प्यार पर्व सुदक्ष*।

क्या मिल सकेगी हाय ?
मैं हूँ पड़ा असहाय।
क्या सुत सलोने सीप,
वे स्वर्ग के दो दीप ?

जिनमें हँसा सुख-साज,
जिनमे प्रिया की लाज।
वे प्राण के आधार,
वे स्वर्ग के अधिकार।

वे विश्व के उद्गार,
वे हृदय के उपहार,

क्या मिल सकेंगे आज ?
क्या हो सकेगा काज ?
अब नहीं, क्या आस,
अब नाश का उल्लास।
सब छोड़ आया प्यार,
सब तोड़ आया द्वार।
सब बन्द है अब राह,
जीवन क्षणिक है आह ?

× × ×

वह देश मेरा देश
जिसके लिये मैं शेष ?
जाने हुआ क्या आज,
जाने गई क्या लाज !
क्या शत्रु लेगा छीन,
करके उसे स्वाधीन।
मैं जिया जिस उद्देश,
क्या छिना मेरा देश ?

क्या वह समुज्ज्वल प्रान्त,
सब विश्व से जो कान्त।
सब आज अपना छोड़,
स्वातन्त्र्य से मुँह मोड़
परतंत्र होगा हाय,
कैसा हुआ असहाय !
मैं कर ना पाया त्रान,
लेना मरण विश्राम।
अब श्वास लेना भूल,
अब और जीना शूल।

पर कौन जाने कौन,
अरि हो गया हो मौन।
मैदान तज मुख मोड,
वापिस गया सब छोड़।
फिर तो महा उल्लास
फिर सफल सारी आस।

फिर सफल मेरी मौत,
फिर सफल जीवन पोत।
फिर सफल मेरी हार,
फिर सफल वन्य प्रहार
फिर सफल जीवन मंत्र,
यदि देश मे स्वातन्त्रय।
जिसके लिये कर युद्ध,
हम हुए पृथ्वी रुद्ध।

वह देश जीता देश?
उल्लसित मन सविशेप।
कुछ भी नहीं परवाह,
जो मृत पडा मैं आह।
आनन्द का अतिरेक*,
मैं क्यों न जीऊँ देख!

× × ×

है यह कहाँ का शोर—
जो उठ रहा सब ओर?
फिर गगन भेदी गीत—
सुन हुआ सैनिक मीत।

यह नहीं मेरा गान—
इस देश का सम्मान?
हा शत्रु हो सानन्द,
रचते विजय के छंद।

अब मैं न जोऊँ और,
क्या टूटते तरु बौर?

× × × ×

पर नहीं—क्या हम एक?
क्या नहीं हम सविवेक?
कोई नहीं है शत्रु,
हैं सभी मानव मित्र।

अविवेक है अज्ञान,
है स्वार्थ का सम्मान।
जो लड़ रहे हैं आज,
लेकर अनोखे काज।

लेकर विचित्र विचार,
लेकर विचित्र पुकार,
सबके लिए उपहार
सबके लिए संसार,

यह भू सभी की भोग्य,
हमको यही क्या योग्य?
धन ही नहीं है सर्व,
मानव अखंड, अखर्व।

हा खेद नर की भूल,
नर को बनी वह शूल।

मैं मर रहा हूँ आज,
जग की छिपाये लाज,
आई हँसी उस काल,
झाँका गगन शशिभाल।

फिर उठी हिचकी एक,
सैनिक हँसा नभ देख।
ऊपर हँसा विधु-हास !
नीचे मरण उल्लास !

—o—

बलदेवप्रसाद मिश्र (१८९८—)

परिचय

डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र का जन्म सन् १८९८ में हुआ। इन्होंने कविता और समालोचना के अनेक ग्रंथ लिखे हैं। 'साकेत संत' इनका हाल का लिखा हुआ महाकाव्य है। जिस तरह 'साकेत' रचकर श्री मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला को विशेष स्थान दिया, उसी तरह 'साकेत संत' में डाक्टर मिश्र ने भरत को विशेष स्थान दिया है। राम और सीता को तो कवियों ने पहले से ही रामायण में उच्च स्थान दे रखा है। 'तुलसी-दर्शन' पर इन को नागपुर यूनिवर्सिटी ने डी० लिट् की उपाधि देकर इनका मान किया है।

बलदेवप्रसाद मिश्र

भरत का निर्णय

हुआ सवेरा आखिर भू पर, मिले सभी यह निश्चय लेकर।
आज एक निर्णय हो जाये, जाय प्रजा अपने-अपने घर।
इतने मे रघुवीर भी आये, गुरु को साभिप्राय विलोका।
कैकेयी ने वुलवा भेजा, वोली, दु ख सहित पथ रोका ॥१॥

"मैं हतभागिन अव क्या माँगू, माँग माँग का सेंदुर मेटा।
विनय यही है, अव हम सवकी, लाज तुम्हारे हाथों वेटा।
चलो दया कर अवध, भरत को प्राणों का मिल जाय सहारा।
मम विदित है, मुझसे कितना—अधिक भरत है तुमको प्यारा ॥२॥

साथ सवों के यदि न चलोगे, आज द्वार पर धरना दूँगी।
इन पापी प्राणों को धारण कर, घर मे क्यों और मरूँगी।
प्रायश्चित करूँगी वन मे, जिससे क्षमा तुम्हारी पाऊँ।
तुम 'माँ' कह मुझसे लिपटो, मैं 'लल्ला' कह वलि-वलि जाऊँ ॥३॥

प्रभु वोले, "तुम मेरी मैय्या, जो आज्ञा वह सिर-माथे पर।
तुम्हें नहीं है शोभा देता, इस विध होना दु:ख से कातर।
माँ, धरना दुर्वल का वल है, तुम सवला हो, तुम माता हो।
राम उसी पथ का अनुगामी—भैया भरत जिधर जाता हो" ॥४॥

धैर्य धरा कर वाहर आये, देखी भरी सभा मुनियों की।
अवध और मिथिला सचिवों की, नीति-दर्शियों की गुणियों की॥
वैठ गये श्रीराम विनत हो, पल भर को सन्नाटा छाया।
चला विचार कि करे सभा मे—कौन कहाँ से अथ मन भाया ॥५॥

वोल उठे जावालि मुनीश्वर, 'मैने जो सोचा समझा है।
और जगत के अथ का इति का, मुझको जो कुछ मिला पता है।

उसके बल पर कह सकता हूँ राम ! न आई लक्ष्मी टालो।
नर प्रभुता से प्रभु होता है, प्रभुता यदि मिल रही, संभालो ॥६॥

इस प्रभुता के हेतु, न जाने, कहाँ कहाँ है छिड़ी लड़ाई।
इस प्रभुता के हेतु भिड़ पड़ा, इस जग मे भाई से भाई।
किन्तु यही प्रभुता लौटाने, आज एक भाई जब आया।
बड़ी भूल होगी यदि तुमने, उसे न सुख से गले लगाया ॥७॥

दुनियाँ में जब सब नश्वर है, 'यथापूर्व' बंधन-माला—
किसकी है अत्यन्त-मुक्ति फिर, किसके यशका अमिट उजाला ?
बँधा न जो आदर्शवाद से, परलोकों का ध्यान न लाता—
हाय हाय से मुक्त सदा जो, मुक्त वही जीवन कहलाता ॥८॥

ग्रन्थों के बहु पथ फँसाते, मनुज-बुद्धि कोरी उलझन में !
जीवन का रस कहीं मिला है, उन सूखे रेतों के कन मे !
मेरे सभी परलोक-विचारक, मेरे सभी सञ्चित अवतारो।
जिया वही जिसने इस जग मे, मस्ती से निज आयु सँवारा ॥९॥

दो दिन का तो यह जीवन है, वह भी तप ही करते बीते ?
तप वे बेचारे करते हैं—जिनको भोगों के न सुभीते।
यौवन की ये नयी उमंगे, दुनिया से उफ ! दूर न भागो।
ईश्वरता के सुख तो भोगो, इस नन्दन में कुछ तो जागो ॥१०॥

औरों को न सता कर भी है, निभ सकती मनमानी भू पर।
बस सकते है इन्द्रिय-सुख भी टिककर सदा न्याय के ऊपर ॥
न्याय राज्य का भोग तुम्हारा, पास तुम्हारे जब यों आया।
कौन तुम्हें तब सुज्ञ कहेगा, यदि तुमने उसको ठुकराया ॥११॥

प्रकृति, पुरुष के लिए भोग्य बन, नत्य नयी छवि है दिखलाती।
शब्द, स्पर्श रूप, रस, सौरभ के पंचामृत-पात्र सजाती।

सबको मिले सुधा-सुख मंजुल, राजा वह सुविधा छाता है।
इसीलिये भोगों का भाजन, जग का इन्द्र कहा जाता है ॥१२॥

सुख-सुविधा-साधन देती है, एक गांव की भी ठुकराई।
तुमने तो उत्तर-कोसल की, अनुपम चक्रवर्तिता पाई।
ऐसे महाराज होकर भी, यदि तुम हो यों वल्कलधारी*।
और न कुछ कह यही कहूंगा--आह! गई है मति ही मारी ॥१३॥

गई पिता के साथ वरों की कथा, अब की बातें मानों।
धर्म-तत्त्व कहता है सुख ही एक ध्येय जीवन का जानो।
यदि इच्छा ही है कि वस्त्रों मे, निज को कॉटों मे उलझाओ।
कहाँ तुम्हें अधिकार कि तुम, वैदेही को भी दुख में डालो ॥१४॥

लौकिक पक्ष प्रकट करने में थे जाबालि प्रसिद्ध धरा पर।
आस्तिक कहे कि नास्तिक कोई, उन्हें न थी चिन्ता रत्ती भर।
पर वैदेही की चर्चा का, उसने जो था तीर चलाया।
उसने स्मृति-कर्ता मुनिवर को, तत्त्व कथन-हित विवश बनाया ॥१५॥

कहा अत्रि ने अंत कि "अपना सुख दुख वैदेही ही जानें।
हमे चाहिए हम तो केवल नीति तत्त्व की बात बखानें।
क्योंकि नीति पर संपद् ही क्यों, निश्चय टिका समग्र जगत् है।
और जगत जीवन दोनो का, अंतिम ध्येय अखंडित सत् है ॥१६॥

राम! विदित है मुझे कि तुमको, वन-विहरण कितना भाता है।
राम! विदित है मुझे कि तुमसे, स्थल यह कितना सुख पाता है।
तुमने ऐसी ज्योति जगा दी, वन्यों के गॉवों गॉवों मे।
एक अहिंसक क्रान्ति आप ही, जाग उठी सबके भावों मे ॥१७॥

शौर्य, शील, सौन्दर्य तुम्हारे, बरबस सबके मन हरते हैं।
नर वानर के हृदय मिला कर भारत का एका करते है।

तुमसे वद्ध हुई आ आकर, ऋषियों की वाणी कल्याणी ।
हुए अनार्य आर्य-सम्मानित, तरी पतित नारी पापाणी ॥१८॥

राम ! विदित है मुझे सभी वह, किधर तुम्हारी रुचि जाती है ।
किससे हृदय सुखी होता है, किस पर चित्त वृत्ति छाती है ।
किन्तु चाहता हू मैं, कोई कह न सके यह कहने वाला ।
तुमने तन या मन के सुख को, कर्तव्यों का पथ दे डाला ॥१६॥

नृप इस जग में सर्वोपरि है, पर विधान से बँधा हुआ वह ।
स्मृतिकारो के नियमों पर ही, भली भाति है सधा हुआ वह ।
उसे नहीं अधिकार कि पैतृक राज्य जिसे चाहा दे डाला ।
उसे नहीं अधिकार, किसी को जब चाहे दे देश-निकाला ॥२०॥

दशरथ-नृप ने अनधिकारमय यह अधिकार कहाँ दिखलाया ?
रानी ने था एक मन्त्र से, बिना विचारे "हाँ" कहलाया ।
बिखर गया वह यत्र विचारा, अपनी ही "हाँ" के उस स्वर मे ।
और भर गया 'ना' की गरिमा, रानी के भी उर अन्तर मे ॥२१॥

उस 'हाँ' की कीमत ही कितनी, उसे न अब तुम और सँभालो ।
उसके लिये राज्य शासन में परपरा की रूढ़ि न टालो ।
जबकि मनाने आया तुमको वन्धु भरत, कुल का उजियारा ।
अवध-राज्य-कल्याण-विचारो, कहता है कर्तव्य तुम्हारा ॥२२॥

शासन दड हाथ मे लेकर, भारत एक बना सकते तुम ।
है इतना सामर्थ्य कि जग मे आर्य-सभ्यता छा सकते तुम ।
फिर क्यो चौदह वर्षो तक तुम, वन-वन भटको बने उदासी ।
तुम पालो कर्तव्य, सुखी हों तुमको पाकर अवध-निवासी" ॥२३॥

अवध-निवासी सुख के इच्छुक केवल उत्सुक ही रह पाये ।
लगा उन्होंने रामचन्द्र थे प्रणत भाव से नयन झुकाये ।

किन्तु प्रणति के साथ-साथ हो, स्वीकृति भी थी या कि नहीं थी।
इसकी किसी प्रकार सूचना, अब आनन पर कहीं नहीं थी ॥२४॥

गुरुवर ने देखा विदेह को, बोले तब मिथिला के स्वामी।
"नई बात कोई न कहेगा मुनि-मण्डल का यह अनुगामी।
प्रथम मुनीश्वर ने समझाई, सुख के पथ की, दुनियादारी।
अपर महामुनि ने सत्पथ की स्मार्तप्रथा* उपयुक्त विचारी ॥२५॥

चित को अन्तिम लक्ष्य मानकर, मैं भी उसी बात पर आया।
राम ! करो वह काम, रहे आदर्श, रहे पर, लोक-सुहाया।
भला किया जो वचन मानकर, तुमने तब गृह-कलह बचाई।
राज बचालो वचन मानकर आज, खडा है सम्मुख भाई ॥२६॥

यही बडा आश्चर्य कि अब तक क्यों न अरि-गण टूटे।
यह न किसी को काद्य, विदेशी आकर अपनी लक्ष्मी लूटे।
आर्यावर्त-अधीश्वर भटके वन-वन, तापस वेश उदासी।
अखिल प्रजा में क्या अनार्य फिर होगा शुचि आर्यत्व विकासी ॥२७॥

पिता सदा सम्मान्य पुत्र का, अटल जनक-आदेश बडा है।
किन्तु पिता से भी बढकर उस जगत पिता का देश बडा है।
सीमा से सद्वृत्त बढे जो, दुर्वृत्तों सा त्याज्य हुआ वह।
किन वचनों पर अटकाया, जब कि अराजक राज्य हुआ यह ॥२

ब्राह्मण-राज्य तपोवन मे है, क्षत्रिय-राज्य पुरों मे सीमित।
वैश्य-राज्य लक्षा मे सुनते, शूद्र-राज्य गाँवों मे निर्मित।
चारों की अपनी महिमा है, राज्य न हो पर राज्य-विहर्ता।
मुझे ज्ञान पडता है, तुम हो चातुर्वर्ण्य-समन्व कर्त्ता ॥२९॥

सत्य महा महिमा-शाली है, तात प्रतिज्ञा-पूर्ण निभाओ।
पर शासन की सिद्ध शक्ति भी मत अपनी यों व्यर्थ बनाओ।

दण्डक के ही किसी गॉव में, अवध-राजधानी वस जावे।
चौदह वर्षों तक इस ही विधि, देश दिनेश तुम्हारे पावे ॥३०॥

राज्य व्यक्ति का या कि वर्ग का, राज्य प्रजा का या राजा का।
चर्चा ही है व्यर्थ, क्योंकि वह है त्रिभुवन के अधिराजा का।
जितना जिसको न्यास मिला है, उचित है कि वह उसे सँभाले।
और अन्त मे उज्जवल मुख से, जिसकी वस्तु उसे दे डाले ॥३१॥

घर मे, वन मे, या कि राज्य मे, बँधकर रह जाना न भला है!
सत्य सरीखे नियमों में भी, फॅस कर रह जाना न भला है।
त्याग-भावना-भरे हुए हों लोक—सग्रही धर्म हमारे।
जीवन कर्मशील हो, पर हों,—ब्रह्मार्पण ही कर्म हमारे ॥३२॥

सुलझे चित्रकूट-कुटिया पर, एक न घर की आज समस्या।
सुलझे घर के साथ-साथ ही भारत भर की आज समस्या।
सिद्धि* वरण करती है उनको—स्वत विवेक और विनयों को।
जो चलते है इस दुनिया मे वात जानकर चार जनों की" ॥३३॥

सन्नाटा छा गया सभा मे, मृदु स्वर से तब रघुवर बोले,
"मैं हूॅ धन्य कि पूज्य पधारे नीति धर्म जिनने सब तोले।
जैसा हो आदेश सबो का सुख से शीश चढ़ाऊँगा मैं।
इधर पिता है, इधर आप हैं, दु ख कहाँ फिर पाऊँगा मैं" ॥३४॥

सन्नाटा फिर हुआ सभा मे, उधर राम थे इधर भरत थे।
और बीच मे भरे अनेकों प्रेम और नियमों के व्रत थे।
असमंजस मे विज्ञ पड़े सब, कौन "एक आदेश" सुनाये—
जिससे शील उभय पक्षों के और न्याय-निर्णय निभ जाये ॥३५॥

गुरु विशिष्ठ ने भाव टटोले और सुनाया सबका निर्णय।
"धन्य तुम्हें है राम! हमारे हित तुमने त्यागा निज निश्चय।

सुमित्रानंदन पंत (१६००—

परिचय

पडित सुमित्रानदन पत का जन्म २४ मई सन् १६०० में कौसाली (जिला अल्मोड़ा) में हुआ। ये हिन्दी, स्कृत, बगला और अग्रेजी के अच्छे पडित हैं। देखने में जैसे सुदर हैं वैसे ही मधुरभाषी और सहृदय हैं। इनकी पहली रचना 'उच्छ्वास' है, जिसमें प्रकृति का वह रूप अंकित किया है जो नैनीताल में देखा जाता है। 'पल्लव' में भी इन्होंने प्रकृकि का ही सुन्दर चित्रण किया है। पर्वत में पैदा होने के कारण इनकी रचनायें प्रकृति वर्णन से सजो रहती हैं। आगे चलकर 'गुञ्जन' में कवि मानव जीवन का चित्रण करता है। 'युगात' में समाज वाद और मानव जाति की समस्याओं को सुलझाने का यत्न किया है। 'युग वाणी' मे गाधी जी के आदर्शों को लेकर कवितायें रची हैं। 'ग्रन्थि' और वीणा, 'स्वर्णकिरण' और स्वर्णधूलि इन के अन्य कविता ग्रह हैं। इनकी रचना बहुत ही कोमल कान्त पदावली से युक्त होती है। उसमें मधुरता और सरसता होती है। खड़ी बोली की कविता में इन्होंने कोमलता का सचार किया है। यही इनकी हिन्दी कविता को देन है।

सुमित्रानंदन पंत

चींटी

चींटी को देखा ?
वह सरल, विरल, काली रेखा
तम के तागे-सी जो हिल डुल
चलती लघुपद पलपल मिल जुल
यह है पिपीलिका* पाँति !
देखो ना, किस भाँति !
काम करती वह सतत ?
कन-कन कनके चुनती अविरत ?

गाय चराती
धूप खिलाती,
बच्चों की निगरानी करती,
लडती. अरि* से तनिक न डरती,
दल के दल सेना सँवारती
घर. आँगन, जनपथ बुहारती !
देखो वह वल्मीकि सुघर.
उसके भीतर है दुर्ग, नगर !
अद्‌भुत उसकी निर्माण-कला,
कोई शिल्पी* क्या कहे भला !
उनमे है सौध, धाम, जनपथ.
आँगन. गो-गृह. भंडार अकथ.
है डिम्ब-सद्म*. वर शिविर रचित.
ड्योढ़ी बहु. राजमार्ग विस्तृत ।

चींटी है प्राणी सामाजिक,
वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक
देखा चींटी को ?
उस के जी को ?

भूरे बालों की-सी कतरन,
छिपा नहीं उस का छोटापन,
वह समस्त पृथ्वी पर निर्भय,
विचरण करती, श्रम में तन्मय,
वह जीवन की चिनगी अक्षय !
वह भी क्या देही है, तिल-सी ?
प्राणों की रिलमिल-झिलमिल-सी
दिन भर मे वह मीलों चलती,
अथक, कार्य से कभी न टलती,
वह भी क्या शरीर से रहती ?
वह कण, अणु, परिमाणु ?
चिर सक्रिय वह, नहीं स्थाणु !

हा मानव !
देह तुम्हारे ही है, रे शव !
तन की चिन्ता मे घुल निशिदिन
देह मात्र रह गए, दबा तिन !

प्राणि प्रवर
हो गए निछावर
अचिर धूलि पर !!
निद्रा भय, मैथुनाहार
—ये पशु लिप्साएँ चार—
हुई तुम्हे सर्वस्व-सार ?

धिक् मैथुन-आहार-यंत्र !
क्या इन्हीं वालुका-भीतों पर
रचने जाते हो भव्य, अमर
तुम जन-समाज का नव्य तंत्र ?
मिली यही मानव में क्षमता* ?
पशु, पक्षी पुष्पों से समता ?
मानवता पशुता समान है ?
प्राणिशास्त्र देता प्रमाण है ?
वाह्य नहीं आंतरिक साम्य ?
जीवों से मानव को प्राकाम्य* ?
मानव को आदर्श चाहिए ?

संस्कृति, आत्मोत्कर्ष·· चाहिए ;
वाह्य विधान उसे है बंधन
यदि न साम्य उन में अंतरतम-
मूल्य न उन का चींटी के सम
वे हैं जड, चींटी है चेतन !
जीवित चींटी, जीवन—वाहक,
मानव जीवन का वर नायक,
वह स्वतंत्र वह आत्म—विधायक

× × ×

पूर्ण तंत्र मानव, वह ईश्वर
मानव का विधि उसके भीतर ?

—·०—

सुख-दुख

(सुमित्रानदन पंत)

मैं नहीं चाहता चिर-सुख
मैं नहीं चाहता चिर-दुख,
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीडित है अति-दुख से,
जग पीडित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ, सुख दुख से

अविरत दुख है उत्पीडन*,
अविरत सुख भी उत्पीडन,
दुख-सुख की निशा-दिवा मे,
सोता - जगता - जग - जीवन।

यह सांझ-उषा का आंगन,
आलिंगन विरह-मिलन का,
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का।

— ० —

सावन

(सुमित्रानंदन पंत)

झम झम झम झम मेघ बरसते हैं सावन के,
छम छम छम गिरतीं बूँदें तरुओं से छन के।
चम चम बिजली चमक रही रे उर में घन के,
थम थम दिन के तम में सपने जगते मन के!

ऐसे पागल बादल बरसे नहीं धरा पर,
जल फुहार बौछारें धारें गिरतीं झर झर!
आंधी हर हर करती, दल मर्मर, तरु चर् चर्,
दिन रजनी औ पाश्व बिना तारे शशि दिनकर!

पंखों से रे, फैले फैले ताड़ों के दल
लंबी लंबी अंगुलियाँ हैं, चौड़े करतल।
तड़ तड़ पड़ती धार वारि की उनपर चंचल,
टप टप झरतीं कर मुख से जल बूँदें झलमल!

नाच रहे पागल हो ताली दे-दे चल दल,
झूम झूम सिर नीम हिलाती सुख से विह्वल।
हरसिंगार झरते, बेला कलि बढ़ती पल पल,
हँसमुख हरियाली में खग कुल गाते मंगल!

दादुर टर टर करते, झिल्ली बजतीं झन झन,
म्याँउ म्याँउ रे मोर, पीउ पिउ चातक के गण।
उड़ते सोन बलाक आर्द्र सुख से कर क्रंदन,
घुमड़ घुमड़ घिर मेघ गगन में भरते गर्जन!

वर्षा के प्रिय स्वर उर में बुनते सम्मोहन,
प्रणयातुर शत कीट विहग करते सुख गायन।

सुख-दुख

(सुमित्रानंदन पंत)

मैं नहीं चाहता चिर-सुख
मैं नहीं चाहता चिर-दुख,
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीडित है अति-दुख से,
जग पीडित रे अति-सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ, सुख दुख से

अविरत दुख है उत्पीडन*,
अविरत सुख भी उत्पीडन,
दुख-सुख की निशा-दिवा में,
सोता - जगता - जग - जीवन।

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का,
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का।

— ० —

सावन

(सुमित्रानंदन पंत)

झम झम झम झम मेघ वरसते हैं सावन के,
छम छम छम गिरतीं बूँदें तरुओं से छन के!
चम चम विजली चमक रही रे उर में घन के,
थम थम दिन के तम मे सपने जगते मन के!

ऐसे पागल वादल वरसे नहीं धरा पर,
जल फुहार बौछारें धारें गिरतीं झर झर!
आंधी हर हर करती, दल मर्मर, तरु चर् चर्,
दिन रजनी औ पाख विना तारे शशि दिनकर!

पंखों से रे, फैले फैले ताड़ों के दल
लंबी लंबी अंगुलियाँ हैं, चौड़े करतल!
तड़ तड़ पड़ती धार वारि की उनपर चंचल,
टप टप झरतीं कर मुख से जल बूँदें झलमल!

नाच रहे पागल हो ताली दे-दे चल दल,
झूम झूम सिर नीम हिलाती सुख से विह्वल!
हरसिंगार झरते, वेला कलि बढ़ती पल पल,
हंसमुख हरियाली में खग कुल गाते मंगल!

दादुर टर टर करते, झिल्ली वजती झन झन,
म्याँउ म्याँउ रे मोर, पीउ पिउ चातक के गण!
उड़ते सोन वलाक आर्द्र सुख से कर क्रंदन,
घुमड़ घुमड़ घिर मेघ गगन मे भरते गर्जन!

वर्षा के प्रिय स्वर उर मे बुनते सम्मोहन,
प्रणयातुर शत कीट विहग करते सुख गायन!

मेघों का कोमल तम श्यामल तरुओं से छन,
मन में भू की अलस लालसा भरता गोपन!

रिमझिम रिमझिम क्या कुछ कहते बूँदों के स्वर,
रोम सिहर उठते, छूते वे भीतर अंतर!
धाराओं पर धाराएँ झरतीं धरती पर,
रज के कण में तृण तृण की पुलकावलि* भर!

पकड वारि की धार झूलता है मेरा मन,
आओ रे सब मुझे घेर कर गाओ सावन!
इन्द्रधनुष के झूले में झूलें मिल सब जन,
फिर फिर आए जीवन में सावन मन भावन!

— ० —

भगवतीचरण वर्मा (१६०३—   )

परिचय

श्री भगवतीचरण वर्मा का जन्म सन् १६०३ मे उन्नाव जिला सफीपुर नामक स्थान मे हुआ। आपकी कविता के दो रूप है। एक मे प्रेम के गीत और दूसरे मे जीवन का हाहाकार। वे मनुष्य जीवन के उतार-चढाव और सुख-दुख से भरी होती है, विरह और मिलन के भावो से ओत-प्रोत है। आपकी भाषा मधुर भी है और तीखी भी। सुबोध होने के कारण आप लोक प्रिय कवि है। इसके साथ-साथ ये कुशल उपन्यासकार और कहानी लेखक भी है। इन की चोटी की रचनाये ये है.—

काव्य—मधुकण, प्रेम—संगीत।

उपन्यास—पतन, चित्रलेखा, तीन वर्ष, टेढे-मेढे रास्ते।

कहानी—इस्टालमेंट।

———

भगवतीचरण वर्मा

एकाकी

१

मैं एकाकी, है मार्ग अगम,
है अन्तहीन चलते जाना,
नभ मे व्यापकता का सन्देश
क्षिति मे सीमा से टकराना,
उजले दिन, काली रातों मे,
लय हो जाते हैं हास-रुदन,
धुंधली बन कर इन आँखों ने
केवल सूनापन पहचाना।
है इस जीवन का बोझ असह
मैं निर्बलता से चूर प्रिये।
उर शंकित है, पग डगमग हैं,
तुम मुझसे कितनी दूर प्रिये!

२

लेकर अक्षय विश्वास, अरे,
उस दिन अब पत्थर के दिल में
मैंने जागृति का पाठ पढा
सोने वालों की महफ़िल मे
'भेदन करना है अन्धकार'
तब पागल-सा मैं बोल उठा।
कब सोचा था, डिग जाऊँगा
मैं बस पहिली ही मंजिल मे?

उस पार ? अरे ! उस पार कहाँ
है अन्तहीन इस पार प्रिये !
पैरों में ममता का बंधन
सिर पर वियोग का भार प्रिये !

३

अब असह अबल अभिलाषा का
है सबल नियति से संघर्षण,
आगे बढ़ने का अमिट नियम
पग पीछे पड़ते हैं प्रतिक्षण

पर यदि संभव ही हो सकता
केवल पल भर पीछे हटना—

तो बन जाता वरदान अमर,
यह सबल तुम्हारा आकर्षण,

मैं एक दया का पात्र अरे !
मैं नहीं रच स्वाधीन प्रिये !
हो गया विवशता की गति में
बंध कर मैं गति हीनप्रिये !

४

शशि एकाकी मिटता रहता,
रवि एकाकी जलता रहता,
मरु एकाकी आहें भरता,
हिम एकाकी गलता रहता,

कोयल एकाकी रो देती
कलि एकाकी मुर्झा जाती

एकाकीपन में बनने का
मिटने का क्रम चलता रहता

एकाकीपन ही अपनापन
मैं अपने से मजबूर प्रिये !
उर शंकित है, पग डगमग हैं
तुम होती जातीं दूर प्रिये !

चलने वाले

(भगवतीचरण वर्मा)

कदम-क़दम ऐ चलनेवाले, सम्हल-सम्हल कर क़दम-क़दम !
एक पहेली-सी फैली है यह अनजानी राह यहाँ,
जग के सपनों से लिपटी है युग-संसृति की आह यहाँ,
कितने ही अरमान सिसककर मिट्टी में मिल चुके, अरे,
और आँसुओं से निर्मित हैं कितने ऊदधि* अथाह यहाँ !

तेरे उर में अनियन्त्रित* गति, तेरे नयनों में विभ्रम,
कदम-कदम ऐ चलनेवाले, सम्हल-सम्हल कर कदम-कदम !

सुना यहाँ पर एक प्यास है, और प्यास में एक जलन,
कुछ उसको पुलकन* कहते हैं, कुछ उसको कहते तड़पन,
इस पुलकन को हँसी कहो या इस तड़पन को रुदन कहो,
हँसी-रुदन की सीमाओं से भरा हुआ है यह जीवन !

इस जीवन का एक मरम* है हँसी-रुदन का एक मरम,
क़दम-कदम ऐ चलने वाले, सम्हल-सम्हल कर क़दम कदम !

अपनी हस्ती के मद में कुछ पड़े हुए मदहोश यहाँ,
अपनी निर्बलता से पीड़ित कुछ बैठे खामोश यहाँ,

अन्तहीन इस विस्तृत पथ पर असफलता का मेला है,
कुचल न दे इन बेचारों को इन पैरों का जोश यहाँ !

पतितों ही के लिए मिला है तुझे यहाँ पर दया धरम:
कदम-कदम ऐ चलने वाले, सम्हल-सम्हल कर कदम-कदम !

सुधा-पात्र तू लिए हुए है, विश्व लिए है यहाँ गरल
जग में है विकराल अनल, तुझ में है सुख-सुषमा कोमल !
अरे अमर तू आज हलाहल का प्याला हँसकर पी जा,
और लुटा दे सुधा अमरता का प्यासा है विश्व विकल !

तू समर्थ है, तू स्वामी है, तू स्रष्टा है और परम !
कदम कदम ऐ चलनेवाले, सम्हल सम्हल कर कदम-कदम !

ये नन्हें-से ओंठ और
यह लम्बी सी सिसकी देखो।
यह छोटा सा गला और
यह गहरी-सी हिचकी देखो॥

कैसी करुणा-जनकदृष्टि है!
हृदय उमड कर आया है!
आत्मीयता के यह सोते
भाव जगाकर लाया है॥

हसो बाहरी चहल-पहल को—
ही प्राय: दरसाती है।
पर रोने में अन्तरतम तक
की हलचल मच जाती है॥

जिससे सोई हुई आत्मा—
जागृत हो अकुलाती है।
छूटे हुए किसी साथी को
अपने पास बुलाती है॥

मैं सुनती हूँ कोई मेरा
मुझको कहीं! बुलाता है।
जिसकी करुणा-पूर्ण चीख से
मेरा केवल नाता है॥

मेरे ऊपर वह निर्भर है
खाने, पीने, सोने मे।
जीवन की प्रत्येक क्रिया मे
हॅसने मे ज्यों रोने मे॥

मैं हूँ उसकी प्रकृत सङ्गिनी
उसकी जन्म-प्रदाता हूँ।

वह मेरी प्यारी चिटिया है,
मैं ही उसकी माता हूँ॥

तुमको सुन कर चिढ़ आती है
मुझको होता है अभिमान।
जैसे भक्तों की पुकार सुन
गर्वित* होते हैं भगवान॥

कदम्ब का पेड़

(सुभद्राकुमारी चौहान)

यह कदम्ब का पेड़ अगर माँ, होता यमुना तीरे
मैं भी उस पर बैठ कन्हैया बनता धीरे धीरे।
ले देतीं यदि मुझे बाँसुरी तुम दो पैसे वाली,
किसी तरह नीचे हो जाती यह कदम्ब की डाली

तुम्हें नहीं कुछ कहता, पर मैं चुपके-चुपके आता,
उस नीची डाली से अम्मा, ऊँचे पर चढ़ जाता।
वहीं बैठ फिर बड़े मजे से मैं बाँसुरी बजाता,
'अम्मा-अम्मा' कह वंशी के स्वर से तुम्हें बुलाता।

सुन मेरी वंशी को माँ, तुम इतनी खुश हो जातीं।
मुझे देखने काम छोड़कर तुम बाहर तक आतीं।
तुमको आता देख बाँसुरी रख मैं चुप हो जाता,
पत्तों में छिपकर मैं धीरे से फिर बाँसुरी बजाता।

तुम हो चकित देखती चारों ओर न मुझको पातीं,
तब व्याकुल सी हो कदम्ब के नीचे तक आ जातीं।

पत्तों का मर्मर स्वर सुन जब ऊपर आँख उठातीं,
मुझको ऊपर चढ़ा देखकर कितनी घबरा जातीं!

गुस्सा होकर मुझे डांटतीं, कहती नीचे आ जा,
पर जब मैं न उतरता हँसकर कहतीं—"मुन्ना राजा,
नीचे उतरो मेरे भैया! तुम्हें मिठाई दूँगी,
नये खिलौने माखन मिश्री दूध मलाई दूँगी।"

मैं हँसकर सबसे ऊपर की टहनी पर चढ़ जाता,
एक बार "माँ" कह पत्तों मे वहीं कहीं छिप जाता।
बहुत बुलाने पर भी माँ, जब मैं न उतरकर आता,
तब माँ माँ का हृदय तुम्हारा बहुत विकल हो जाता।

तुम अञ्चल पसार कर अम्मा, वहीं पेड़ के नीचे
ईश्वर से कुछ विनती करतीं बैठी आँखे मीचे।
तुम्हें ध्यान में लगी देख मैं धीरे-धीरे आता,
और तुम्हारे फैले अञ्चल के नीचे छिप जाता।

तुम घबराकर आँख खोलतीं फिर भी खुश हो जातीं।
जब अपने मुन्ने राजा को गोदी ही मे पातीं।
इसी तरह कुछ खेला करते हम-तुम धीरे-धीरे,
माँ, कदम्ब का पेड़ अगर यह होता यमुना तीरे।

———

महादेवी वर्मा (१९०७)

परिचय

श्रीमती महादेवी वर्मा सन् १९०७ मे फरुखाबाद मे (उत्तर प्रदेश) में पैदा हुई। इनका विवाह बाल्यावस्था मे डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा से हुआ। वे आजकल गोरखपुर मे डाक्टरी करते हैं। श्रीमती महादेवी संस्कृत की एम० ए० है। इन दिनों प्रयाग के महिला विद्यापीठ की प्रिंसिपल हैं। इन्होंने व्रजभाषा मे कविता करना आरम्भ किया, किन्तु श्री मैथिलीशरणगुप्त की कविता से प्रभावित होकर खडी बोली को अपनी कविता का साधन बनाया। इनकी कविता में मधुरता, सुकुमारता और कोमलता के भाव मिलते हैं। इन्होंने मनोहर गीत रचे हैं, जो सभी गाये जा सकते हैं। ये अच्छी चित्रकार भी हैं।

इनके काव्य-ग्रन्थ ये हैं :—रश्मि, नीहार, नीरजा सान्ध्यगीत, यामा, दीपशिखा। यामा और दीपशिखा मे इनके सब गीत मिलते हैं। नीरजा पर इनको हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से ५००) का पुरस्कार मिला है। ये रहस्यवादी कवियों मे सबसे प्रमुख हैं।

मुस्काते फूल

(महादेवी वर्मा)

वे मुस्काते फूल, नहीं—
जिन को आता है मुरझाना,
वे तारों के दीप नहीं,
जिनको है घुल जाने की चाह,
वह अनन्त ऋतुराज* नहीं—
जिस ने देखी जाने की राह,
वे सूने से नयन, नहीं—
जिन में बनते आँसू-मोती,
वह। प्राणों की सेज, नहीं—
जिस में बेसुध पीड़ा सोती,
ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं
जिसने जाना मिटने का स्वाद।
क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरे मिटने का अधिकार।

— —·—

हरिवंशराय 'बच्चन' (१९०७—)

परिचय

श्री हरिवंशराय 'बच्चन' का जन्म प्रयाग में सन् १९०७ में हुआ। श्री बच्चन ने एम० ए० अंग्रेजी की परीक्षा पास की है और बनारस यूनिवर्सिटी से बी० टी० पास किया। ये सदा परीक्षाओं मे अच्छे नम्बर लेकर पास होते रहे हैं।

श्री बच्चन हिन्दी कविता में नये भाव लेकर आये। ये उमर खैयाम से मधुशाला और मधुबाला लेकर करने कविता लगे। इन विचारो के कारण इनकी धाक कवि सम्मेलनों में बैठ गयी। इसके बाद ये सुन्दर गीत लिखने लगे। इनकी पत्नी का देहान्त हो गया। विरह की वेदना को इन्होंने गीत लिखकर प्रकट किया। ये गीत 'निशा-निमन्त्रण' में मिलते हैं। इनकी भाषा सरस है और चलते रूप का सुन्दर नमूना है।

आजकल के कवियो में आपका नाम आदर से लिया जाता है।

रंगरेल-रंगराती हवा,
बरसात की आती हवा।

७

यह गुदगुदाती देह को,
शीतल बनाती गेह को,
फिर से जगाती नेह को,
उल्लास बरसाती हवा,
बरसात की आती हवा।

८

यह शून्य से होकर प्रकट,
नव हर्ष से आगे झपट,
हर अंग से जाती लिपट,
आनन्द सरसाती हवा,
बरसात की आती हवा।

९

जब ग्रीष्म मे यह जल चुकी,
जब खा अँगार-अनल चुकी,
जब आग मे यह पल चुकी,
वरदान यह पाती हवा,
बरसात की आती हवा।

१०

तू भी विरह मे दह चुका,
तू भी दुखों को सह चुका,
दुख की कहानी कह चुका,
मुझसे बता जाती हवा,
बरसात की आती हवा।

हरिकृष्ण प्रेमी (१६०८—)

परिचय

श्री हरिकृष्ण का जन्म ग्वालियर राज्य के गुना नामक स्थान मे सन् १६०८ में हुआ। ये छायावाद के नये कवियों में विशेष स्थान रखते हैं। 'आँखो मे' नाम की पुस्तक मे इनकी रचनाये हृदय की पीड़ा को व्यक्त करती है, 'जादूगरनी' पुस्तक छायावाद का उदाहरण है, और 'अनन्त के पथ' पर रहस्यवादी भावो को प्रकट करती है। 'अग्निगान' मे पीड़ितो को क्राति का राग सुनाया गया है। आजकल कवि फिर पलट रहे हैं और क्राति के स्थान पर लोगों को शाति के गीत सुना रहे हैं।

कवि के साथ-साथ ये सफल नाटककार भी हैं। इनके नाटकों का अच्छा स्वागत हुआ है। रक्षा बन्धन, शिवा-साधना, प्रतिशोध, विष-पान उद्धार, मित्र आदि नाटक लोकप्रिय बन चुके हैं। आजकल ये चित्रपट या सिनेमा मे काम कर रहे हैं और बम्बई मे निवास रखते हैं।

हरिकृष्ण प्रेमी

रक्षाबंधन

बहन, बांध दे रक्षा-बंधन मुझे समर में जाना है।
अब के घन-गर्जन में रण का भीषण छिड़ा तराना है।
दे आशीर्वाद जननि के चरणों में यह शीश चढ़ाना है।
बहन, पोंछ ले अश्रु गुलामी का यदि दु:ख मिटाना है।

अंतिम बार बांध ले राखी,
करले प्यार आखिर बार—
मुझको, जालिम ने फाँसी की
डोरी कर रक्खी तैयार।

रक्षा, रक्षा कायरता से, मर मिटने का दे वरदान।
हृदय रक्त से टीका कर दे, कर मस्तक पर लाल निशान।
वह जीवन का स्रोत आजकर मेरे मानस में संचार।
काँप न जाऊँ देख समर में रिपु की बिजली सी तलवार।

अपना शीश कटा, जननी की
जय का मार्ग बनाना है।
बहन, बाँध दे रक्षा-बन्धन
मुझे समर में जाना है।

जिसने लाखों ललनाओं* के पोंछ दिये सर के सिंदूर।
गड़ रहा कितनी कुटियाओं के दीपों पर आँखें क्रूर।
वज्र गिरा कर कितने कोमल हृदय कर दिये चकनाचूर।
उस पापी की प्यास बुझाने, बहन जग रहे लाखों शूर।

मृत्यु-विटप की शाखा पर मैं,
डाल हिंडोला* झूलूँगा।

दो पेंगों में अमरलोक की
अन्तिम सीढ़ी चूमूँगा।

बहन, शीश पर मेरे रख दे स्नेह-सहित अपना शुभ हाथ।
कटने के पहले न झुके यह ऊँचा रहे गर्व के साथ!
उस हत्यारे ने कर डाला, अपना सारा देश अनाथ!
आश्रयहीन हुई यदि तू भी, ऊँचा होगा तेरा माथ!

दीन भिखारिन बनकर तू भी
गली-गली फेरी देना!
'उठो बधुओ, विजय-वधू को,
वरो तभी निद्रा लेना!

आज सभी देते हैं अपनी बहनों को अमूल्य उपहार।
मेरे पास रखा ही क्या है आँखों के आँसू दो-चार!
ला, दो-चार गिरा दूँ, आगे अपना अंचल विमल प्रसार।
तू कहती है, 'ये मणियाँ हैं इन पर न्यौछावर संसार।

बहन, बढ़ा दे चरण कमल मे
अन्तिम बार उन्हें लूँ चूम!
तेरे शुचि स्वर्गीय स्नेह के,
अमर नशे में लूँ अब झूम!

जिस कर में अब बाँध रही है तू अपनी राखी के तार,
उसे हृदय पर रख देना तुम मुझे चिता पर रखती बार!
'मृत्यु गुलामी से सुन्दर है, कायरता के शुभ नहार'!
अपनी राखी के तारों में, बहन यही भर दो झंकार!

कभी इसी राखी के धागे
पर कट गये हजारों शीश!

सोहनलाल द्विवेदी

परिचय

सोहनलाल द्विवेदी का जन्म बिन्दकी जिला फतहपुर में हुआ। वहा के ये रईस हैं। राष्ट्रीय कवियों में आपका विशेष स्थान है। 'भैरवी' में कवि ने देश को जगाया, 'पूजागीत' में देश की पूजा के गीत गाये हैं। 'चित्रा' में जीवन के गीत हैं।

द्विवेदी जी 'अधिकार' पत्र का भी सपादन करते रहे हैं। आप की भाषा में सरलता और सरसता है। हिन्दी कवियों में आपका नाम आदर से लिया जाता है।

सोहनलाल द्विवेदी

पथ-गीत

जय जय जय
बढ़ो अभय
तोड़ दुर्ग गिरे दीवारें
ढहें शृंग टूटे मीनारें
मचे प्रलय
बढ़ो अभय
जय जय जय

फूँको शंख ध्वजाएँ फहरें
चले कोटि सेना घन घहरें
अग्नि निलय
बढ़ो अभय
जय जय जय

अमर सत्य के थर-थर
काँपे विश्व काँपे विश्वंभर
हे दुर्जय
बढ़ो अभय
जय जय जय

युग-युग दलित प्रजा के क्रंदन
अब न सहे जाते थे बंधन
मचे प्रलय
मृत्युंजय
बढ़ो अभय
जय जय जय

बलि पर बलि ले चलो निरन्तर
हो प्राची मे आज युगातर

उगे उदय
राष्ट्र विजय
बढ़ो अभय
जय जय जय

कोटि कोटि नित नित कर माथा
गावें जन-गण तेरी गाथा

तुम अक्षय
तुम दुर्जय
तुम निर्भय
जय जय जय

– × –

युग का राग

(सोहनलाल द्विवेदी)

आज युग का राग गा पिक।
झरें पीले पत्र तरु के,
आज- जागें भाग्य मरु के,
जीर्ण जग, इस भव पुरातन में,
नवल निर्माण ला पिक।

गिरे युग का शीर्ण* वल्कल,
रूढ़ियों* का छत्र श्यामल,
खिलें सुख के सुमन सुन्दर,
वह मधुर मलयज* वहा पिक।

हिम तुषार निपात भागे,
आज मधु का मर्म जागे,
मुक्ति मधु ऋतु के मधुप के
छंद वंदनवार छा पिक !
आज युग का राग गा पिक !

—:o:—

नव-निर्माण

(सोहनलाल द्विवेदी)

अब जगोगे किस उषा में
जब जगाया तब न जागे !
नींद में सोते रहे तुम,
आत्मबल खोते रहे तुम,
प्रात आया, अब उठो तो !
सब सुनहले स्वप्न भागे !
काल ले सर्वस्व भागा
है न घर में एक धागा,
नग्न तन, भय मग्न मन है
भग्न गृह प्रासाद आगे।
उठो फिर खँडहर सँवारो
प्राण तन-मन जन्म वारो,
आज नव निर्माण में दो
दान जो भी देश माँगे !

—:o —

वे पानीदार, कमानी-से
हैं श्वेत-श्याम-रतनार गधे!

मेरे प्यारे—

हैं कान कमल-सपुट-से स्थिर,
नीलम से विजड़ित चारों खुर
मुख कुन्द-इन्दु-सा विमल,
कि नथुने भँवर सदृश गंभीर,तरल,
तुम दूध नहाये से सुन्दर,
प्रति अग-अंग से तारक दल
ही झांक रहे हों निकल निकल,
हे फेनोज्ज्वल, हे श्वेत-कमल,
हे शुभ्र अमल, हिम-से उज्ज्वल,
तेरी अनुपम सुन्दरता का
मैं साहस कलम से करके भी
गुण-गान नहीं कर सकता हूँ,
फिर तेरे रूप-सरोवर की
मैं कैसे पाऊँ पार गधे?

मेरे प्यारे—!

तुम अपने रूप शील, गुण से
अनजान बने रहते हो क्यों?
ऐ लात फेंकने मे सकुशल!
पगहा-बंधन सहते हो क्यों?
तुम भी अमरीकन रमणी का
सचमुच दुलार पा सकते हो!
तुम भी मिस नरगिस के सग मे
नित 'वाकिंग' को जा सकते हो!

आई० सी० ऐस के बँगले की
तुम भी शोभा हो सकते हो।
तुम भारतीय ईसाई-से
कुल का कलंक धो सकते हो।

ऐ साधु, स्वयम् को पहचानो,
युग जाग गया तुम भी जागो।
क्यों शासित होकर रहते हो।
मन की कायरता को त्यागो॥

इस भारत के धोबी-कुम्हार
भी शासक पूँजीवादी हैं॥
तुम क्रान्ति करो, लादी पटको,
वर्तन फोड़ो, घर से भागो।
ऐ प्रगतिशील युग के प्राणी!
तुम रचो नया संसार गधे!
मेरे प्यारे—!

—:—:—

'हमें नहीं भाते यह सपने
कब किसके हो पाते अपने ?'
नहीं समझ मे आता !
पागल कवि क्यों गाता ?

कवि कहता मन में मुसकाकर
'इन गीतों में जीवन का स्वर
कर देता सर्वस्व निछावर
जो इनमे रम जाता !'
आकुल हो कवि गाता !

कर पाता वह दुख को अपना,
समझ सका जो सुख को सपना,
शेष नहीं उसको कुछ कहना,
केवल गाना भाता !
आकुल हो कवि गाता !

जीवन में सुख जान न पाए,
आँखों से नित अश्रु बहाए,
उनको क्या कहकर बहलाए,
जिनका कवि से नाता ?
प्रेमी कवि है गाता !

कोई आ जग मे सुख पाते,
कोई ऊब यहाँ से जाते,
किसी भाँति तब रोते गाते
पथ सबको मिल जाता !
मुक्ति हेतु कवि गाता !

मैं झूम-झूम कर गाती

(तारा पांडे)

सखि, इस दो दिन की दुनिया में
मैं अपनापन दिखलाती !

मेरी नीरस-सी घड़ियों मे
रस बरसाने आया।
भूल गई थी अँधियारे मे
मार्ग दिखाने आया।

मीठी थपकी दे-देकर
बच्चे को आज सुलाती !
मैं झूम-झूम कर गाती !

सूरज की हँसमुख किरणे जब
नव प्रकाश भर जातीं
मुक्त गगन में चिड़ियाँ उड़कर
मधुर प्रभाती गातीं।

कोमल अधर चूम बच्चे के
प्रातःकाल जगाती !
मैं झूम-झूम कर गाती !

बच्चे के संग रोती हूँ मै
बच्चे के सँग गाती !
इसकी हँसी प्राण में मेरे
मधुर सुधा बरसाती !

न्योछावर मन, प्राण इसी पर
पल भर में मुसकाती !
मैं झूम-झूम कर गाती !

श्यामनारायण पाण्डेय

मेरी कविता

तुम इतने कविता के प्रेमी
तुम इतनी आकुलता लाये।
तब क्यों न व्यथा पहचान सके
जब इतनी भावुकता लाये।
कवि के सँग रो न सके, उसके
भावों को समझ सकोगे क्या।
उसकी कविता की गति-यति की
उलझन में उलझ सकोगे क्या॥
तुम व्यर्थ बहस करकर अपने तर्कों का मत अवसान करो।

यह भी सन्देह सताता है
नत-शीश उठाओगे कि नहीं।
मेरी कविता के व्यंग्यों के
तुम अर्थ लगाओगे कि नहीं॥
यदि भाव समझ में आ न सका
निज को तुम तक पहुँचा न सका।
तो तुम भी कह पछताओगे
यदि स्वर से कविता गा न सका।
तुम समझा-समझा कर मेरी पीड़ा का मत अपमान करो।

—०:—

मैं

(श्यामनारायण पाण्डेय)

गिरता रहता है तरंग से जो,
बहते नद का वह कूल हूँ मैं।

मद-मोह से जो भरमा ही करे,
उसके मद-मोह का मूल हूँ मैं।

वनमाली जिसे देखता भी नहीं,
चित से उतरा वह फूल हूँ मैं।
जिस राह से तेरे सनेही चले,
समझो उस राह की धूल हूँ मैं॥

जिसमें नित नीरवता ही रहे,
नभ का वह किनारा हूँ मै।
यह जीवन क्या है पता नहीं,
फिर भी इस भूमि का प्यारा हूँ मै।

बुझती है न आग सदागति से,
सबकी एकता का सहारा हूँ मैं,
रवि खेलता है जिसके घर में,
उसके घर का एक तारा हूँ मैं॥

उपेन्द्रनाथ अश्क

निद्रा में सोए हैं लेकर
स्निग्ध चाँदनी की चादर।

पर अब भी सुन्दर स्मृतियाँ
दिन की, उनमें मधु भरती हैं।
हारे थके किसी राही का
जो जीवन श्रम हरती है।

कोमल किसलय-दल पर जाकर
मद के डाकू सोए हैं।
किसे ख़बर मैंने इन रातों
कितने सपने खोए हैं?

—:o:—

शिवमंगलसिंह 'सुमन' (१६१६—   )

परिचय

श्री सुमन का जन्म सन् १६१६ मे गांव झगरपुर (जिला उन्नाव) मे हुआ। आपने १६४० मे बनारस यूनिवर्सिटी से एम० ए० हिन्दी की परीक्षा पास की। सबसे पहले १६३६ में 'हिल्लोल' आपकी कविताओ का सग्रह छपा। 'जीवन के गान' १६४१ मे और 'प्रलय-सृजन' १६४४ में। 'युग का मोल' काव्य सग्रह भी छप चुका है। इन सब रचनाओ मे कवि जीवन के भाव व्यक्त करता है। गहरे भावो और सरल भाषा के बल पर सुमन ने हिन्दी काव्य ससार में अपना विशेष स्थान बना लिया है।

आजकल आप माधव कालिज, उज्जैन में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष का काम करते हैं।

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

मेरा इसमें दोष नहीं है

मैं प्रिय का पथ अपनाता हूँ
जो जी में आता गाता हूँ
इतना कह सकता हूँ, मुझको तो अपना ही होश नहीं है,
मेरा इसमें दोष नहीं है।

सुख-दुखमय चिर-चचल मन है।
मानव हूँ, अपूर्ण जीवन है
इसीलिए तो इस जीवन से आज मुझे सतोष नहीं है,
मेरा इसमे दोष नहीं है।

आशा अभिलाषा का धन है
सब कहते मुझ में यौवन है
तुम्हीं बता दो यौवन-मद में कौन हुआ मद-होश नहीं है,
मेरा इसमे दोष नहीं है।

इसका कहीं नहीं इति-अथ है
जीवन अमर साधना पथ है
दुनिया जो कहना हो कह ले, मुझे किसीपर रोप नहीं है,
मेरा इसमे दोप नहीं है।

— ० —

आज जीवन भार क्यों है ?

(शिवमगलसिंह 'सुमन')

साधना के पथ पर क्यों डगमगाते पाँव मेरे ?
आज रह-रहकर कसकते क्यों हृदय के घाव मेरे ?

आज प्राणों में प्रणय की मधुर-सी मनुहार क्यों है,
आज जीवन भार क्यों है ?

कौन कहता है नई यह प्रेम की मेरी कहानी
आज की, कल की नहीं, यह बात युग-युगकी पुरानी।

आज भी मानव-हृदय में एक विफल पुकार क्यों है ?
आज जीवन भार क्यों है ?

देख जड़ जग की विषमता जब निराशा घेर आती
कान मे कहता हृदय, 'सुन, व्यर्थ आह कभी न जाती'

विजन-वन में फिर प्रवृत्ति का हो रहा शृंगार क्यों है ?
आज जीवन भार क्यों है ?

—:o:—

जीवन और गीत

(शिवमंगलसिंह 'सुमन')

अभी जीवन कहाँ ?
जिसके लिए मैं गीत गाता हूँ

अभी व्रज-वीथियों* सूनी
अभी सूना पड़ा मधुवन
अभी झुलसे लता तरुगण
अभी उजड़ा पड़ा उपवन
अभी सावन कहाँ ?
जिसके लिए घन मेघ छाता है
अभी जीवन कहाँ ?
जिसके लिए मैं गीत गाता

२

कहाँ मधु से भरी प्याली
कहाँ उमड़ा हुआ यौवन
कहाँ अरमान में आँधी
कहाँ तूफ़ान में जीवन
अभी मधुऋतु कहाँ ?
दिन-रात पतझर ही मनाता हूँ
अभी जीवन कहाँ ?
जिसके लिए मैं गीत गाता हूँ

३

न पत्थर में कहीं पारस
न कर्षण* शक्ति चुम्बक में
कहाँ लौ में जलन बाकी
कहाँ है स्नेह दीपक में
दिवाली भी कहाँ ?
जिसके लिए तन मन जलाता हूँ
अभी जीवन कहाँ ?
जिसके लिए मैं गीत गाता हूँ

४

कहाँ है क्षोभ झरनों में
कहाँ सागर में अकुलाहट
कहाँ सरिता में विह्वलता
लिए अभिसार की आहट
कहाँ संगम ? अभी
अविराम प्यासा छटपटाता हूँ
अभी जीवन कहाँ ?
जिसके लिए मैं गीत गाता हूँ

५

कहीं कलियों में है शोखी
    कहीं रस ज्ञान उपलों में
कहीं सौरभ है सांसों में
    कहीं मकरन्द* मुकुलों मे
        कहीं मधु ? वन मधुप
            जिसके लिये मै गुनगुनाता हूं
        अभी जीवन कहां ?
            जिसके लिए मै गीत गाता हूँ

६

कहीं झंकार वीणा में
    गमक* तबलों मृदंगों मे
अभी नव स्फूर्ति* ताण्डव की
    समा पाई न अंगों मे
        अभि सम-ताल-यति—
            गति हीन तानें ही सुनाता हूं
        अभी जीवन कहो ?
            जिसके लिए मैं गीत गाता हूँ

७

अभी मांगा न तृष्णा ने
    अगम मधु सिन्धु का मन्थन
अभी विष तक पचाने का
    उठा उर मे न आन्दोलन
        न जान अग्नि
            चुम्बन से अभी क्यों जी चुराता हूँ
        अभी जीवन कहो ?
            जिसके लिए मैं गान गाता हूँ

८

अभी केवल सुना है
कल्पतरु* होता है नन्दन मे
अभी लाया कहाँ हूँ
कामधेनू जग के आँगन में
अभी तो शून्य में
ही दूध की गंगा बहाता हूँ
अभी जीवन कहाँ?
जिसके लिए मैं गीत गाता हूँ

९

अभी आकुल है कायाकल्प
करने को मही सारी
कहाँ जीवन अभी तो
हो रही जीवन की तय्यारी
अभी जीवन कहाँ?
जिसके लिए मैं गीत गाता हूँ

— ० —

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' (१६२०—)

परिचय

श्री कमलेश का जन्म आगरा में सन् १६२० मे हुआ। इनकी पढ़ाई नियमित रूप से नहीं हुई। मिडिल तक आगरे जिले के एक कस्बे मे पढ़े। प्रभाकर की परीक्षा पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर से पास की। विद्यार्थियों को पढ़ाने के साथ-साथ इन्टर और बी० ए० भी वहाँ से पास किया। एम० ए० हिन्दी आगरा से पास किया। आजकल आप आगरा कालिज, आगरा मे पढ़ाने का काम करते हैं। श्री कमलेश एक उदीयमान कवि और सुलझे हुए समालोचक हैं। गुजराती भाषा से अच्छी जानकारी रखते हैं। मुंशी के उपन्यासों का हिन्दी मे सुन्दर अनुवाद किया है।

काव्य संग्रह :—मैं सुखी हूँ, तू युवक है।

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

भाई-भाई नहीं लड़ेंगे—

वनो एक ही मिट्टी से है हम दोनों की काया,
मालिक एक, रहीम-राम वन जिसने हमे लुभाया।

सागर एक, सघन घन वनकर देता हमको पानी,
हिलता दोनों के हित, एक धरा का अचल धानी।

वायु एक ही वहती है, हम दोनों के श्वासों मे,
एक अग्नि प्रज्वलित सदा निश्वासों में।

घिरे हुए हैं एक दिशावधि* से, हम दोनों भाई,
एक गगन के तले सुरक्षित, जीवन की निधि पाई।

हिमगिरि एक हमारा, दोनों के गौरव का लेखा,
एक गङ्गा की धारा, हम दोनों के यश की रेखा।

एक प्रकृति की छटा कि जो दोनों के मन को भाती,
एक देश की महिमा से फूली दोनों की छाती।

नहिं विरोध कहीं भी हममें, हम दोनों हैं एक।
भाई-भाई नहीं लड़ेंगे, यही हमारी टेक॥

एक शत्रु है वेधे जिसने, हम दोनों के सीने,
शोषक* एक वहाये हमने जिसके लिए पसीने।

एक वधिक है, जिसने हमसे लाल हमारे छीने,
हत्यारा है एक, नहीं देता जो हमको जीने।

व्यापारी है एक कि जिसने हम दोनों को लूटा,
एक गुलामी जिसके कारण भाग्य हमारा फूटा।

एक जहालत है, जिसे हम दोनों को है लड़ना,
एक गरीबी, जिसे मिटाकर हमको आगे बढ़ना।

मजहब का है।एक भूत बस, जिसको मार भगाना,
साहस की है ज्योति एक, बस जिसको आज जगाना।

आजादी है एक कि जिस पर लगी हमारी आँखें,
साध एक है, मुक्त देश मे खुलें हमारी पाँखें।

हमें लड़ानेवाली, सुन लो, ध्येय हमारा एक।
भाई-भाई नहीं लड़ेंगे, यही हमारी टेक।

—:o:—

नरेन्द्र शर्मा (१६२३—   )

परिचय

श्री नरेन्द्र शर्मा का जन्म सन् १६२३ मे ज़िला बुलद शहर में हुआ। सुमित्रानन्दन के साथ रहकर आप को कविता करने में रुचि बढी। आप के गीत ससार की उजड़ी हुई बस्तियों का वर्णन करते हैं, मानव जीवन के दु.ख को व्यक्त करते हैं। कहीं-कहीं आपने मनुष्य को दुख पर विजय पाने का सदेश दिया है। आजकल के जीवन का सजीव चित्र आपकी रचनाओं में मिलता है। आजकल आप सिनेमा के लिये गीत लिखते हैं।

आपकी रचनाओं के नाम ये हैं .—

प्रवासी के गीत

कामिनी

पलाशवन

प्रभात फेरी

मिट्टी और फूल

नरेन्द्र शर्मा

जीवन-साथी

फिर-फिर रात और दिन आते
फिर-फिर होता सांझ-सवेरा,
मैंने भी चाहा फिर आए
बिछुड़ा जीवन-साथी मेरा,

पर मेरे जीवन का साथी
छूट गया सो छूट गया!

रातों जगा, करवटे बदलीं,
साँसें गिन गिन नींद बुलाई,
किन्तु न पूरा हुआ अधूरा
सपना, उचटी नींद न आई,

कच्चे धागे-सा सुख-सपना
टूट गया सो टूट गया!

हैं नभ मे अनगिनती तारे
रोज एक दो टूटे तो क्या?
पर मेरी आंखों का तारा
उसे छोड़कर मुझे कौन था?

भाग्य भरे प्याले-सा कर मे,
फूट गया सो फूट गया!

—:o:—

जीवन

(नरेन्द्र शर्मा)

घड़ी-घड़ी गिन, घड़ी देखते काट रहा हूँ जीवन के दिन
क्या साँसों को ढोते-ढोते ही बीतेंगे जीवन के दिन ?
सोते जगते, स्वप्न देखते रातें तो कट भी जाती हैं,
पर यों कैसे, कब तक, पूरे होंगे मेरे जीवन के दिन ?

कुछ तो हो, हो दुर्घटना ही मेरे इस नीरस जीवन में !
और न हो तो लगे आग ही इस निर्जन बाँसी के वन में !
ऊब गया हूँ सोते-सोते, जागें मुझे जगाने लपटें,
गाज गिरे, पर जगे चेतना प्राणहीन इस मन-पाहन में !

हाहाकार कर उठे आत्मा, हो ऐसा आघात अचानक !
वाणी हो चिर-मूक, कहीं से उठे एक चीत्कार* भयानक !
वेध कर्णयुग बधिर बना दे उन्हें चौंक आँखें फट जाएँ
उठे एक आलोक झुलसता (रवि ज्यों नभ में) वह दृग-तारक !

कुछ न हुआ ! भू गर्भ* न फूटा ! हाय न पूरी हुई कामना !
आँखों का अब भी दीवारों से होता है रोज सामना !
कल की तरह आज भी बीता, कल भी रीता ही बीतेगा,
बिना जले ही राख हो गई धुनी रूई-सी अचिर कल्पना !

— ० —

सुधीन्द्र

परिचय

श्री सुधीन्द्र एम० ए० नवीन कवियों में विशेष स्थान रखते हैं। इनकी कविताओं में भावों का प्रवाह बहता चला जाता है। भाषा की प्रौढ़ता इन को चार चांद लगा देती है। सबसे पहले इन्होंने राष्ट्रीय रंग में रंगी हुई कविताएं लिखीं। इसके बाद आप आध्यात्मिक विषयों की ओर आकृष्ट हुए। डा० रवीन्द्रनाथ टाकुर की गीतांजली का बहुत सुन्दर अनुवाद आप ने हिन्दी में किया। इसलिये रहस्यवाद की छाप इनकी कविताओं पर लगी हुई मिलती है। आशा है कि आप इससे भी अधिक हिन्दी संसार की सेवा करेंगे।

अभयकुमार यौधेय (१९२३—)

परिचय

श्री यौधेय का जन्म सन् १९२३ पट्टी जिला अमृतसर (पंजाब) में हुआ। आप पंजाब के उदीयमान कवि और लेखक हैं। चित्रपट के लिये गीत लिखने का काम भी आपने बम्बई में रहकर किया है। 'अनामिका' 'अंधकार के पार', 'स्कन्ध', हिंसा-अहिंसा, और 'मार्शल की सलामी' आपकी रचनाओं के नाम हैं। आपकी भाषा में प्रवाह है और भावों में कसक।

अभयकुमार यौधेय

एक गीत

मै अभिशापों के बदले वरदान दिया करता हूँ।

जिसने जीवन का दीप बुझाया पल मे
मैं उसको भी आशीष दिया करता हूँ।—
मैं अभिशापों के बदले वरदान दिया करता हूँ।

इन उच्छ्वासों से शुष्क हुआ है दृग-जल
मैं प्राणासव ही सदा पिया करता हूँ।—
मैं अभिशापों के बदले वरदान दिया करता हूँ।

यह लूट रहा है बरसो से जग मुझको
मैं जो कुछ भी हो बॉट दिया करता हूँ।—
मैं अभिशापों के बदले वरदान दिया करता हूँ।

फूँका है जिसने मम नव निर्मित मन्दिर
मैं उसकी स्मृति मे धूप दिया करता हूँ।—
मैं अभिशापों के बदले वरदान दिया करता हूँ।

जग ले चुकने के बाद विदाई देता
मैं देकर ही प्रस्थान किया करता हूँ —
मैं अभिशापों के बदले वरदान दिया करता हूँ॥

—:o:—

परमानन्द शर्मा (१६२४—   )

परिचय

आपका जन्म १२ जून १६२४ को जालन्धर ज़िला के अन्दर घोड़ियाल गाव में हुआ। स्कूली काल में लिखने का काम आपने उर्दू कविता से आरम्भ किया। सबसे पहले सस्कृत के कवि भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' का अनुवाद 'कशकोल' नाम से उर्दू में किया। इसके बाद आपकी रुचि हिन्दी की ओर बढी। हिन्दी में सबसे पहले आपने वीर रस प्रधान महाकाव्य 'छत्रपति' लिखा। आशा की जाती है कि आप अपना स्थान हिन्दी साहित्य में शीघ्र बना लेंगे।

परमानन्द शर्मा

सिंह मैदानों में

माता को शीश नवा कर
शिव ने सब कथा सुनाई,
जो सन्धि हुई जयसिंह से,
वह अक्षरशः बतलाई।

तब साहस देख शिवा का
दी उसने उसे बधाई,
उसके शिर पर रख करतल
यों बोली जीजाबाई—

"अब वचनों के पालन हित
तुम यवन सभा में जाओ
पर आशिष से शङ्कर की
शुभ शीघ्र लौटकर आओ।"

मां—आशिष शिर पर धर कर
चल पड़ा वीर व्रतधारी,
लटका ली इक पहलू में
चिर-पूज्या वीर-कटारी

थे संग मराठे सैनिक
शिव के बचपन के साथी,
सज सज कर निज घोड़ों पर
उत्तर को चले बराती।

सरदार कई यवनों के
पथ में स्वागत को आते,
आ आकर सादर मिलते
नाना उपहार चढ़ाते।

कितने कोसों की दुगम,
तै करके मञ्जिल भारी
अरि-राजधानी मे पहुँची
जब शिवा की असवारी,

गलियों बाजार सजे थे
यवनों के राजनगर में,
फर-फर फहराते झण्डे
अभिमानोन्नत* अम्बर में

थी आज आगरे मे कुछ
हल-चल भी दिखती अनुपम,
कर रहे दमामे धा धा
बज रहे नगारे ढम ढम।

उन्नत मोती मस्जिद थी,
मरमर की मीनारों से
मुगलाई शान टपकती
मस्जिद की दीवारों से।

अपने उन्नत बुर्जों से
गर्वोन्नत ताजमहल था,
मानो ऊँचा मुख करके
लखता सब चहल-पहल था।

थे खडे स्तम्भ कितने ही
नभ चुम्बी बुर्जों वाले
युग युग के खडे सिपाही
जैसे हों पहरों वाले।

उनकी सुन्दर महरावे
सबकी सब रक्त-सनी थी,

कितने वीरों के खूं से
वह गोलाकार बनी थीं।

कलकल करती कालिन्दी
धीरे धीरे बहती थी,
शत शत लहरों के कर से।
शिव को स्वागत कहती थी।

गलियों सड़कों पर फिरते
उत्सुक उत्सुक अधिकारी,
सज धज निकले महलों से
यवनाधिप के दरबारी।

वन वन में फिरने वाला
वह नाहर स्वेच्छाचारी
था देख रहा विस्मित-सा
क्या हलचल थी वह सारी।

बढ़-बढ़ कर आज नगर में
क्यों झण्डे फहराते थे,
क्यों उत्सुक उत्सुक प्राणी
इत उत आते जाते थे।

क्या उसे रिझाने को ही
वह भारी तय्यारी थी,
या उसे फँसाने के हित
वह कृत्रिमता सारी थी?

यह रूप प्राकृतिक ही था
या था खाली आडम्बर—
क्या बात विलक्षण होगी
हे शिव शंकर मंगल कर?

तब वैठी-वैठी म्यां में
कुछ तड़पी वीर-कटारी
क्षण हिन हिन कर घोड़ों ने
निज पौड़ ज़मी पर मारी

क्षण वाम नेत्र भी फडका
कुछ-कुछ अधीर सा होकर
क्षण ठनक उठा माथा भी
जैसे निज स्थिरता खोकर

शिव ! सावधान हो जाओ
यह यवन-राजधानी है,
अज्ञात तुम्हारे शिर पर
कोई आफ़त आनी है !

तुम छोड मांद* को अपनी
आये क्यों मैदानों मे
क्या मानवता देखी थी
तुमने इन हैवानों मे ?

तू, नाहर वन का प्राणी
वसता स्वतन्त्र जगल मे
उस द्रोही के कहने पर
आ फसा यवन-चुगल मे ।

जव प्रण पालन का पक्का
जायगा राज-सभा मे
तव कुटिल नीति तू नृप की
पायेगा राज-सभा मे ॥

-- .o --

शब्दार्थ

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

अस्थिर जीवन

चेत = चौकस

हर = शिव

श्रीधर पाठक

सु-सदेश = सुन्दर स देश

सुमञ्जु = मनोहर

प्रवीणता = कुशलता

पुरन्दर = इन्द्र

वियोगतता = विरह में दुखी

भृकापन = क्रोध

दाक्षिण्य = उदारता

देश-गीत

अघ = पाप

राकेश = पूर्ण चन्द्रमा

वितान = विस्तार, फैलाव

नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर'

पावस वर्णन

पावस = बरसात

घन-पात = बिजली का गिरना

विषम = तीव्र कठिन

इन्द्रचाप = पींग

अभ्र = बादल

वृत्त = गोल

झाबर = झील

तड़ाग = तालाब

अयोध्यासिंह उपाध्याय

एक बूंद

बदा = लिखा

अनमनी = उदास

सच्चे वीर

उबार = निकाल

जीवट = साहस

तरह तरह के फूल

फबन = शोभा

अनूठी बातें

दिल-ललक = प्यार की चाहना

वैदेही वनवास

पोत = नाव

गरल = विष

विह्वलता = आकुलता व्याकुलता

अवगति = दुर्गति नीचगति

धुरन्धर = श्रेष्ठ, प्रधान

यशोदा-विलाप

ललन = [illegible]

गेह = घर

गर्हित = नीचा

मृदुता = कोमलता

जगन्नाथदास रत्नाकर

शैव्या-विलाप

कुसुमय=बुरे समय
कपोल = गाल
विलोकि = देखकर
छमहु = क्षमा करो
विपति = विपत्ति, आपदा

रामचन्द्र शुक्ल

पहली झलक

अभिराम = सुन्दर
अंतराल = मध्य भाग
गोपद = गाए के पैर
दूब = घास
मधूक = एक पेड़
निरखते = देखते

वसन्त पथिक

अरुण = लाल
पलास=ढाक, पेड़
मृदुगामिनी=कोमल चलनेवाली
भामिनी=स्त्री
द्रुम=पेड
सौरभ=सुगन्ध
छेम=हित
कंचनमयी=सोने जैसी
मञ्जरी = बूर
रुचिर = सुन्दर
प्रतिमा = मूर्ति
चिर = थिर
वसन = वस्त्र
अलकें = बाल
आतुर = व्याकुल

मैथिलीशरण गुप्त

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो

परमार्थ = मोक्ष
यथार्थ = सही, ठीक
अपवर्ग = मुक्ति
अभीष्ट = प्रिय, मनोरथ

माखनलाल चतुर्वेदी

सिपाही

रक्त तर्पण = लहू की अंजलि
प्रत्यंचा = धनुष की डोरी
त्रेता = चारों युगों में दूसरा युग
सीकर = पानी के कण

जयशंकर प्रसाद

बाल क्रीड़ा

मोद = खुशी
रंक = गरीब
मनोनीत = मन के अनुसार

मिल जाओ गले

कमनीयता = सुन्दरता

सैनिक

अलीक = मिथ्या

अपराह्न = दूसरा दिन

वीभत्स = भयकर

लरजता = कापता

यान = रथ, विमान

उत्कर्ष = समृद्धि

सुदक्ष = अच्छा बल, चतुर

अतिरेक = अधिकता

अखर्व = नाश न होनेवाला

वलदेवप्रसाद मिश्र

भरत का निर्णय

सुज्ञ = ज्ञानी

वल्कलधारी = खाल पहने हुए

पाषाणी = पत्थर समान

स्मार्तप्रथा = शास्त्र की रीति

सिद्धि = सफलता

चल-चित्र = चलने वाले चित्र

परिस्थिति = हालत

चेरा = चेला, नौकर

आर्द्रता = कोमलता

सुमित्रानदन पत

चींटी

पिपीलिका = चींटी

अरि = शत्रु

शिल्पी = बनाने वाला

सद्म = घर

क्षमता = वल

प्राकाम्य = शक्ति

आत्मोत्कर्ष = अपनी उन्नति

सुख-दुख

उत्पीड़न = पीड़ा

सावन

पुलकावलि = खुशी से प्रफुल्ल रोम

भगवतीचरण वर्मा

चलनेवाले

उदधि = सागर

अनियन्त्रित = जो बधा हुआ नहीं

पुलकन = गुदगुदी

मरम = रहस्य, सार

सुभद्राकुमारी चौहान

मुरझाया फूल

सतप्त = तपा हुआ

इसका रोना

निहारना = देखना

गर्वित = गर्व से भरना

महादेवी वर्मा

अनुराग-दान

पयोधर = बादल

पाहुन = अतिथि

नरेन्द्र शर्मा

जीवन

भू गर्भ = पृथ्वी का गर्भ

सुधीन्द्र

शूल-फूल

शूल = काटा

क्रन्दन = चिल्लाना, रोना

अभयकुमार यौधेय

एक गीत

नवनिर्मित = नया बना हुआ

प्रस्थान = चलना

परमानन्द शर्मा

सिंह मैदानों मे

अभिमानोन्नत = अभिमान से उठा हुआ

नाहर = शेर

कृत्रिमता = बनावट

मान्द = खोह